

एम.ए.(हिन्दी) उत्तरार्द्ध

सेमेस्टर-III

प्रश्नपत्र 302 : हिन्दी-आलोचना

अध्ययन सामग्री : इकाई 1-2



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी-विभाग

स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम

## प्रश्नपत्र 302 : हिन्दी-आलोचना

अध्ययन सामग्री : इकाई 1-2

### अनुक्रम

	पृ.सं.
पाठ-1. भारतेंदु और महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टियाँ	01-11
पाठ-2. रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेंद्र की आलोचना-दृष्टियाँ	12-23

संपादक  
हिन्दी विभाग

लेखक  
डॉ. आलोक रंजन पांडेय



मुक्त शिक्षा विद्यालय  
दिल्ली विश्वविद्यालय  
5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

## भारतेंदु और महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टियाँ

—डॉ. आलोक रंजन पांडेय  
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग  
हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली-110007

### जीवन परिचय

आधुनिक हिंदी के जनक तथा तुलसीदास के बाद महानतम लेखक माने जाने वाले भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर 1950 ई. को काशी के प्रसिद्ध अग्रवाल वंश में हुआ था। पिता श्री गोपालचंद्र स्वयं अच्छे साहित्यकार थे तथा गिरधरदास नाम से कविता करते थे। उनके द्वारा लिखी हुई व्यवहार संबंधी कुंडलियाँ तथा 'नहुष' नाटक प्रसिद्ध हैं। इस संबंध में स्वयं भारतेंदु ने लिखा है—

**'जिन श्री गिरधरदास ने रचे ग्रंथ चालीसा। ता सुत श्री हरिश्चंद्र कौ को न नवावै सीसा।'**

संपन्न परिवारों की परंपरा के अनुकूल बालक हरिश्चंद्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध घर पर ही हुआ। मौलवी ताज अली को उर्दू-फारसी, पं. ईश्वरदत्त को संस्कृत तथा नंद किशोर को अंग्रेजी पढ़ाने का दायित्व सौंपा गया। पिता का प्रभाव, परिवार के संस्कार एवं सरस्वती की असीम कृपा से बचपन में ही आपकी रुचि काव्य रचना के प्रति रही और 9 वर्ष की अवस्था में ही आपने पिता की 'वाणासुर वध' रचना को देखकर एक दोहे का प्रणयन किया—

**'लै ब्यौड़ा ठाड़े भये, श्री अनिरुद्ध सुजान वानासुर की सैन को, हनन लगे भगवान।'**

इस दोहे को सुनकर आपके पिता चमत्कृत व पुलकित हो उठे। उन्होंने उसी समय स्नेह-विह्वल हो पुत्र को सुकवि होने का आशीर्वाद दिया जो समय पाकर पूरी तरह सफल हुआ। भारतेंदु की अवस्था जब 5 वर्ष की थी तब उनकी माता पार्वती देवी तथा दस वर्ष की अवस्था में उनके पिता का असामयिक निधन हो गया। पिता की असामयिक मृत्यु के बाद उनकी शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध नहीं हो सका, किंतु कुशाग्र बुद्धि व तीव्र स्मरणशक्ति वाले भारतेंदु ने अपनी सभी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त की। कॉलेज छोड़ने के बाद इन्होंने स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। भारतेंदु के काव्य गुरु पं. लोकनाथ ने काव्यकला के साथ ही इन्हें अनेक भाषाएँ भी सिखाई। कहा जाता है कि मराठी, बंगला, गुजराती, संस्कृत, अंग्रेजी और पंजाबी जैसी 24 भाषाओं का उन्हें ज्ञान था। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतेंदु जी की साहित्य-प्रतिभा अन्यतम थी, उनका व्यक्तित्व मनोहर एवं आकर्षक था। वे दयालु, विनम्र और स्वाभिमानि तथा धार्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। देश-प्रेम तथा राष्ट्रीय भाव उनमें कूट-कूट कर भरा हुआ था। यही कारण है कि उनके साहित्य में उनके भक्त, सुधारक और उपदेशक रूप स्पष्ट उभर आते हैं।

भारतेंदु जी को साहित्य-सेवा का अधिक समय न मिला, केवल 34 वर्ष और 4 मास की अल्पायु में ही 25 जनवरी सन् 1885 को उनका स्वर्गवास हो गया, तथापि इस छोटी सी अवस्था में ही उन्होंने साहित्य की जैसी सेवा की वैसी सेवा बहुत कम ही साहित्यकार कर पाए हैं। वे साहित्य जगत में सुकवि, गद्यकार, नाटककार, निबंधकार, पत्रकार, आलोचक व इतिहास लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। बाबू राधाकृष्णदास ने भारतेंदु की रचनाओं के बारे में बताते हुए लिखा है कि उन्होंने 20 नाटक, 8 आख्यायिकाएँ, 28 काव्य अथवा कविता संग्रह, 7 स्तोत्र,

8 अनुवाद या टीका, 18 हास्य संबंधी रचनाएँ, 16 धार्मिक रचनाएँ, 25 जीवन चरित और 13 राजभक्ति-सूचक एवं देश-भक्ति संबंधी रचनाएँ लिखी। इसके अतिरिक्त उन्होंने ज्योतिष, स्त्री-शिक्षा और यात्रा-साहित्य संबंधी रचनाएँ लिखी और 4 पत्रिकाओं का संपादन भी किया। इनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

**अनूदित नाटक-** विद्यासुंदर (बंगला से 1868ई.), पाखंड बिडंबन (प्राकृत से 1872ई.), धनंजय विजय (संस्कृत से 1873ई.), कर्पूर मंजरी (प्राकृत से 1875ई.), मुद्राराक्षस (संस्कृत से 1878ई.), दुर्लभ बंधु (अंग्रेजी मार्चेट ऑफ वेनिस का 1880ई.) आदि। **मौलिक नाटक-**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (1873ई.), सत्य हरिश्चन्द्र (1875ई.), प्रेम योगिनी (1875ई.), श्री चंद्रावली (1876ई.), विषस्य विषमौषधम (1876ई.), भारत जननी (1877ई.), भारत दुर्दशा (1880ई.), नीलदेवी (1881ई.), सती प्रताप (1883ई.), अंधेर नगरी (1881ई.) आदि। **उपन्यास-** पूर्ण प्रकाश चंद्रप्रभा (1889ई.) **काव्य ग्रंथ-**सुंदरी तिलक (1869ई.), भक्ति सर्वस्य (1870ई.), कार्तिक स्नान (1872ई.), दान लीला (1874ई.), प्रबोधिनी (1874ई.), श्रीनाथ स्तुति (1877ई.)। प्रेम प्रलाप (1877ई.), मधुमुकुल (1880ई.), प्रेम फुलवारी (1883ई.), विजय वल्लरी (1881ई.), नये जमाने की मुकरी (1884ई.), जातीय संगीत (1884ई.) आदि। **व्यंग्य और हास्य-** स्यापा (1874ई. उर्दू में), बंदर सभा (1879ई.), बकरी विलाप (1874ई.), चतुरंग (1872 ई.), मूक प्रश्न (1877ई.) आदि। **इतिहास और पुरातत्व-** कश्मीर कुसुम, महाराष्ट्र देश का इतिहास (1871ई.) बादशाह दर्पण (1884ई.) आदि। **नाट्यशास्त्र-**नाटक (1883ई.) **पत्र-पत्रिकाएँ-**कविचन सुधा (1868ई.) हरिश्चंद्र मैगजीन (1873ई. यही पत्र 1874ई. के जून मास से हरिश्चंद्र चंद्रिका के नाम से प्रकाशित हुआ) और बाला बोधिनी (1874ई.)

## भारतेंदु की आलोचना-दृष्टि

भारतेंदु युग हिंदी साहित्य का प्रवर्तन युग है, जिसमें साहित्य के विभिन्न रूपों की संरचना में साहित्यस्रष्टाओं ने रुचि ली है। इसलिए कि उन्होंने साहित्य-विषय, साहित्य-रूप, साहित्य-शिल्प और साहित्य-भाषा सभी स्तर पर अपने पूर्ववर्ती साहित्य को प्रकृति और प्रवृत्ति से युग के आग्रह पर परिवर्तन करना चाहा था। इस युग में यही परिवर्तन आलोचना के क्षेत्र में भी दिखता है। भारतीय आलोचना पद्धति-परंपरा में संस्कृत विद्यागत समालोचक भरतमुनि, राजशेखर, कुंतक, मम्मट आदि से बढ़ती हुई हिंदी में आई। तुलसी की यह उक्ति प्रयोजन 'कीरति भनिति मूल मलि सोई, सुरसरि सम सब कहूँ हित होई', काव्य की सैद्धांतिक विवेचना थी तो कबीर की यह उक्ति 'संस्करित है कूप जल, भाखा बहता नीर' भाषा की प्रवाहमयता और जीवंतता तथा भाषा के प्रतिमान को स्थापित करने की कसौटी थी। रीतिकाल में भी ठाकुर और घनानंद आदि ने भी कविता का तत्वगत खंडन किया है। घनानंद की 'मोहि तों मोरे कवित बनावत' रचना तथा रचनाकार के मध्य अंतःसंबंध तथा 'ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच, लोगन कवित कीबों कि खेल करि जानो है' द्वारा ठाकुर ने कारखानों से निकलने वाली बनी-बनाई परिपाटी में कुछ रूढ़िवादी उपमानों के सहारे और अलंकारों से लदी कविताओं की खबर ली है।

भक्तिकालीन और रीतिकालीन आलोचना अपने युगीन साहित्य के मूल्यांकन के लिए निर्मित हुई थी, किंतु हिन्दी साहित्य के आगामी विकास के लिए आलोचना में भी विकास तथा परिवर्तन आवश्यक था। इसीलिए भारतेंदु काल में जहाँ गद्य की अन्य सभी विधाएँ नए सिरे से विकसित की गईं वहाँ हिंदी आलोचना में नए कार्य आरंभ हुए। भारतेंदु के समय तक साहित्यिक विवेचना का स्तर अधिक बौद्धिक हो गया था। काव्य की आलोचना में तो किसी प्रकार रस और अलंकार पद्धति का प्रयोग हो सकता था। किंतु गद्य साहित्य का मूल्यांकन इसके द्वारा संभव नहीं था। हिंदी में इस समय उपन्यास, कहानी, निबंध आदि गद्य साहित्य का विकास हो रहा था। जिसके मूल्यांकन के लिए नई प्रकार की आलोचना की आवश्यकता थी। तत्कालीन आलोचक अपनी आलोचना में किसी विशेष

शास्त्रीय नियम का पालन नहीं कर रहे थे बल्कि वे अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार रचनाओं के गुण-दोष का उद्घाटन कर रहे थे। यह हिंदी आलोचना के विकास का आरंभिक दौर था।

आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास में यह लक्षित किया है कि हिंदी गद्य साहित्य का विकास नाटकों से हुआ जिसे आगे की ओर बढ़ते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंदी आलोचना का सूत्रपात भी 1883ई. में भारतेंदु हरिश्चंद्र द्वारा लिखित निबंध 'नाटक' से ही हुआ था। इस निबंध में लगभग साठ पृष्ठों में नाटक का शास्त्रीय विवेचन और इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह निबंध दशरूपक, नाट्यशास्त्र, साहित्य दर्पण, विलसंस हिंदू थियेटर्स, आर्य दर्शन, लायफ ऑव दी एमिनेंट परसंस, हिस्ट्री द इटालिक थियेटर्स, जैसे ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है। इस निबन्ध में भारतेंदु ने नाटक संबंधी अपने मौलिक विचारों को प्रस्तुत किया है। इस निबंध को उनके शास्त्रीय और सैद्धांतिक समीक्षा-प्रणाली का निबंध कहा जा सकता है। उस युग को देखते हुए यह अपने ढंग का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ निबंध है। इसमें भारतेंदु ने भारतीय नाट्यशास्त्र के नियमों और उनकी प्रक्रियाओं को समझाते हुए बताया है कि नाटक रचना करते समय किन-किन बातों का ध्यान आवश्यक है। नाटक प्रणयन के सिद्धांत के संबंध में भारतेंदु का कहना है- 'जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रभाव जिस रूप में चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति-पद्धति इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना योग्य है।' (भारतेंदु ग्रंथावली, भाग-1 : नाटक, पृष्ठ-714)

भारतेंदु जी ने अपना 'नाटक' शीर्षक निबंध में मुख्यतः नाटक-विवेचन करते हुए लिखा है, किंतु उससे उनकी जीवन और साहित्यिक-विषयक धारणाओं का भी पता चलता है। वे साहित्य को शाश्वत सत्ता मानते हुए भी उसमें समाज-सापेक्षता को प्रमुख मानते थे। उन्होंने इसी निबंध में भारतीय नाटककार कालिदास और अंग्रेजी नाटककार शेक्सपीयर के भाव-विधान की भी तुलना की है और उनकी लोकप्रियता का उल्लेख कर यह प्रतिपादित किया है कि ये लेखक किस प्रकार जन-जीवन के अधिक निकट रहकर अपना साहित्य निर्माण करते हैं। भारतेंदु ने अपने समकालीन आलोचक बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन की भांति अपने समकालीन किसी रचनाकार या रचना की आलोचना नहीं की है। किंतु उनका ध्यान प्राचीन-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की ओर विशेष रूप से गया है। ये साहित्य को विकासशील रूप में देखते हैं। इन्होंने साहित्य का संबंध केवल व्यक्ति से न मानकर साहित्यकार के युग से माना है।

भारतेंदु जी ने साहित्य के उद्देश्य की चर्चा करते हुए दो प्रमुख प्रयोजनों की चर्चा की है। वे हैं आनंद की अनुभूति और लोक हित। भारतेंदु का मानना है कि सहृदय वही हो सकता है जो साहित्यकार के समानांतर उसकी कृति से आनंद प्राप्त कर सके। वामन ने अपने ग्रंथ में सत-साहित्य को सहृदय-प्रीति का कारण बताया था। भारतेंदु ने उसे ही अपनी संपूर्ण परंपरा के साथ विशिष्ट महत्त्व देते हुए तत्काल सहृदय की हृदयानंद निवृत्ति के लिए आनंद को विशिष्ट प्रयोजक ठहराया। उसका मानना है कि साहित्य की रचना करते समय साहित्य-स्रष्टा को सहृदय के अंतःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीति का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। ऐसा करने से सहृदय उस रचना से जुड़ जाएगा अन्यथा रचनाकार अपनी बात पहुँचाने में विफल माना जाएगा।

भारतेंदु के रचनात्मक जीवन में 1868ई. से लेकर 1882ई. का समय घोर वैचारिक संक्रमण का समय है। इस दौरान वह धीरे-धीरे दृढ़ होते गए कि भारत के सभी दुख कष्टों का कारण अंग्रेजी राज है। इसीलिए उन्होंने अपनी इस दौर की रचनाओं के द्वारा अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए औपनिवेशिक शोषण को बार-बार 'एक्सपोज' किया। भारतेंदु आधुनिकीकरण का समर्थन करते थे, लेकिन इस समर्थन के बावजूद भी वे अपनी जातीय-सांस्कृतिक विरासत और आत्मपहचान खोने के पक्ष में नहीं थे। वे नहीं मानते थे कि भारत को

आधुनिकीकरण की राह पर ले जाने के लिए उपनिवेशवाद जरूरी है, बल्कि बार-बार 'कर दुःख बढ़ै', 'पै धन विदेश चलि जात यहै अति खवारी', 'भीतर-भीतर सब रस चूसै, बाहर से तन मन धन मूसै। जाहिर बातन में अति तेज, क्यों सखि सज्जन नहि अंगरेज,' 'जो भारत जग में रह्यो सबसे उतम देस। ताही भारत में रह्यो अब नहिं सुख को लेस' जैसी बातें कहकर वे देश की आधुनिक उन्नति और जनता के सुख के मार्ग में अंग्रेजी राज को बाधक मानते थे। इतनी आलोचना के बाद भी वे अंग्रेजों की शिक्षा व रहन-सहन के कायल थे। इसी कारण वे पश्चिम की उपलब्धियों, उसके ज्ञान-विज्ञान से फायदा उठाने की बात कहना नहीं भूलते। बलिया वाले भाषण में वे खुले मन पर दुख के साथ कहते हैं कि इंग्लैंड में गाड़ी का कोचवान भी अखबार पढ़ता है जबकि यहाँ (भारत) का कोचवान या तो हुक्का पीयेगा या गप्प करेगा। भारतेंदु इस गप्प करने वाली स्थिति के प्रबल विरोधी थे।

शिवप्रसाद सितारे 'हिंद' द्वारा लिखित 'इतिहासतिमिरनाशक' के तीसरे खंड की आलोचना भारतेंदु ने 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 1873ई. में की थी। इसमें उन्होंने इतिहास को सत्ता विमर्श से लोक-विमर्श में रूपांतरित करने की बात की है। इसी में उन्होंने मुस्लिम शासन और अंग्रेजी राज की आलोचना करते हुए लिखा है कि 'बाबू शिवप्रसाद ने सल्तनत काल में लागू बाईस किस्म के टैक्सो की फेहरिस्त देकर मुसलमानों के दमन-शोषण का वर्णन किया है। लेखक भूल जाता है कि मध्यकालीन दमन और शोषण की मिसाल लगने वाले वे टैक्स ब्रिटिश शासन में आज भी बदले हुए नामों से जारी हैं। ऊपर से कई ऐसे नए टैक्स भी लग गए, जिनके पहले के अर्धसभ्य शासन कल्पना भी नहीं कर सकते थे।' इसी आलोचना से उनकी धार्मिक सहिष्णुता का भी पता चलता है। भारतेंदु का आदर-भाव केवल हिंदू धर्म की ओर ही नहीं था बल्कि सभी धर्मों की ओर था। तभी तो इन्होंने इस्लाम के पैगंबर मुहम्मद, उनकी बेटी फातिमा, अली, हसन और हुसैन की जीवनी 1884ई. में 'पंच पवित्रात्मा' शीर्षक से लिखी। भारतेंदु किसी भी धर्म की कट्टरता के खिलाफ थे और उसकी जमकर आलोचना करते थे तभी तो उन्होंने 15 फरवरी 1874 की 'हरिश्चंद्र मैगजीन' में 'अनेक कोटि देवी-देवताओं के माहात्म्य', 'छोटी-छोटी बात में ब्रह्महत्या के पाप', 'बड़े-बड़े यज्ञ' और मूल धर्म छोड़कर 'उपधर्मों' के आग्रह की आलोचना की थी।

भारतेंदु हरिश्चंद्र ने समष्टिगत, नैतिक और सौंदर्य मूल्यों की समष्टि को ही अपना जीवन-दर्शन बनाया। नैतिक एवं समष्टिगत मूल्यों के कारण ही सौंदर्य में उनकी रुचि थी। उनके संपूर्ण साहित्य के अनुसार ही आलोचना में भी युगबोध के अनुरूप समाज-सुधार की भावना बलवती हुई है। वे सत्यप्रतिज्ञा, देश स्नेह आदि समष्टिवादी मूल्यों एवं मर्यादा जैसे नैतिक मूल्यों को उत्तम उद्देश्यफल स्वीकार करते हुए इसे नाटक में आवश्यक मानते हैं। इसके उदाहरण के लिए वे अपने नाटकों की ही बात करते हैं। ऐसा करने से एक ओर उनकी मूल्य-चेतना स्पष्ट होती है और दूसरी ओर व्यावहारिक समीक्षा भी हो जाती है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं कि 'आजकल की सभ्यता के अनुसार नाटक रचना में उद्देश्यफल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है। यह न होने से सभ्य शिष्टगण ग्रंथ का तादृश आदर नहीं करते अर्थात् नाटक पढ़ते या देखने से कोई शिक्षा मिले। जैसे सत्यहरिश्चंद्र देखने से आर्य जाति की सत्यप्रतिज्ञा, नीलदेवी से देश-स्नेह इत्यादि की शिक्षा मिलती है। इस मर्यादा की रक्षा के हेतु वर्तमान समय में स्वकीय नायिका तथा उत्तम गुण विशिष्ट नायक को अवलंबन करके नाटक लिखना योग्य है। यदि इसके विरुद्ध नायिका और नायक के चरित्र हो तो उसका परिणाम बुरा दिखलाना चाहिए। यथा नहुष नाटक में इंद्राणी पर आसक्त होने से नहुष का नाश दिखलाया गया है। अर्थात् चाहे उत्तम नायिका नायक के चरित्र की समाप्ति सुखमय दिखलाई जाय किंवा दुश्चरित्र पात्रों से चरित्र की समाप्ति कटकमय दिखलाई जाय। नाटक के परिणाम में दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावें।' (भारतेंदु ग्रंथावली: प्रथम भाग, पृष्ठ- 773-774)

**भाषा के स्वरूप तथा महत्त्व संबंधी** इनकी आलोचना विशेष महत्त्व की है। उन्होंने हिंदी साहित्य का अध्ययन भाषा-विज्ञान की दृष्टि से करने पर जोर दिया है तथा शब्दाडंबर को निंदनीय माना है। उनका विचार है कि काव्य की भाषा शुद्ध होनी चाहिए। वे अपने युग के अन्य आलोचकों की भांति-स्वभावोक्ति को सत्काव्य का लक्ष्य मानते हैं। इसीलिए उन्होंने रीतिकालीन काव्य का मूल्यांकन स्वभावोक्ति के आधार पर करते हुए कहा है कि 'इस समय के कवियों का चित्त स्वभावोक्ति पर तनिक नहीं जाता था। केवल बड़े-बड़े कवि शब्दाडंबर करते थे और इन शब्दाडंबरों वालों का पद्माकर राजा है और इसने वर्ण-मैत्री के हेतु अनेक व्यर्थ शब्द अपने काव्य में भर लिए हैं और इनकी देखा-देखी और भी कवि ऐसा करने लगे? (कवि वचन सुधा, अगस्त 1882)। उन्होंने अतिआलंकारिकता को काव्य के लिए निंदनीय माना है तथा भाषा विज्ञान और भाषा के विकास का भी विवेचन किया है जो कि अपनी आरंभिक अवस्था में थी। भाषा को एक स्थिर गति देने के लिए भारतेंदु ने 'हिंदी भाषा' शीर्षक समालोचनात्मक निबंध लिखा जिसमें उन्होंने भाषा के तीन रूप - (घरेलू भाषा, कविता की भाषा और गद्य की भाषा) के संदर्भ के बात की। घरेलू भाषा को तो उन्होंने स्थान-स्थान पर बदलने वाली कहा है। कविता की भाषा के रूप में उन्होंने ब्रजभाषा स्वीकार करते हुए ब्रजभाषा के माधुर्य की बात की है। गद्य की भाषा के रूप में उन्होंने खड़ी बोली की बात की है। साहित्य भाषा के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन करते हुए उन्होंने उसके शब्द प्रयोगों के अनुरूप शुद्ध तत्सम रूप, सामान्य तद्भव रूप तथा अन्य भाषाओं जैसे फारसी, अंग्रेजी आदि के शब्दों को लेकर चलने वाली जनसाधारण की भाषा के रूप का भी विश्लेषण किया है। उनकी मान्यता में भाषा का प्रामाणिक रूप इसी में है कि यह सब प्रकार के शब्दों को अपनी पाचन शक्ति के द्वारा आत्मसात करती हुई चले। भारतेंदु 'निज भाषा' के समर्थक थे लेकिन वे इस निज भाषा को केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं देखना चाहते थे। वे इसे राज-काज की भाषा, विज्ञान की भाषा, ज्ञान की भाषा बनाना चाहते थे। इस संदर्भ में वे आजीवन काम करते रहे।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेंदु के साहित्य में आलोचना अपने परिपक्व रूप में भले ही न हो लेकिन यत्र-तत्र उनकी समालोचनात्मक प्रज्ञा के दर्शन हो ही जाते हैं जो आज की विकसित बौद्धिक चेतना के सम्मुख एक नवीन विधा के रूप में दृष्टिगत होता है। भारतेंदु जिस समय लिख रहे थे उस समय हिंदी साहित्य में आलोचना की नवीन प्रणाली का कोई विधान नहीं था, उस समय उन्होंने अपने भारतीय और पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से उसका नव-निर्माण किया। समष्टिगत, नैतिक एवं सौंदर्य मूल्यां का जो समन्वय भारतेंदु ने किया, आगे चलकर वहीं हिंदी आलोचना का मूलधार बना। इसी महत्त्व को रेखांकित करते हुए जार्ज ग्रियर्सन भारतेंदु को उत्तर भारत के सबसे बड़े आलोचक की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस तरह आधुनिक हिंदी आलोचना के प्रवर्तन में उनकी महत्ता असंदिग्ध है।

## **महावीरप्रसाद द्विवेदी**

### **जीवन परिचय**

साहित्य के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा के बल से युगांतर प्रस्तुत करने वाले प्रख्यात आलोचक व निबंधकार आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म 15 मई 1864 ई. में उत्तर प्रदेश के राय बरेली जिलांतर्गत दौलतपुर गाँव के एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता श्री रामसहाय द्विवेदी महावीर हनुमान के परम भक्त थे शायद इसी कारण उन्होंने अपने पुत्र का नाम 'महावीर सहाय' रखा जो बाद में इनके अध्यापक की भूल से महावीरप्रसाद हो गया। इनके पिता सेना में थे किंतु 1857 ई. के गदर आंदोलन में इनके पिता की पलटन बागी हो गई थी। इस पलटन के काफी लोग विद्रोह के कारण मारे गए या पलटन छोड़कर भाग गए थे। पंडित रामसहाय दूबे भी भागकर

मुंबई चले गए जहाँ वे एक मंदिर में सेवा कार्य करने लगे। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की शिक्षा-दीक्षा बहुत ही परेशानियों से हुई। द्विवेदी जी का पूरा परिवार विद्याव्यसनी था, जिस कारण उन्होंने घर पर ही संस्कृत, हिंदी, बांग्ला, अंग्रेजी आदि का ज्ञान प्राप्त किया था। द्विवेदी जी को तुलसीकृत 'रामचरित मानस' से बहुत लगाव था। इसी कारण उन्होंने बचपन में ही इसका अध्ययन कर लिया था। आरंभिक शिक्षा गाँव के विद्यालय और बरेली में हुई। इसके बाद 'तार भेजने' का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए अपने पिता जी के पास मुंबई चले गए। प्रशिक्षण के बाद इनकी नियुक्ति-झाँसी के जी.आई.पी. रेलवे के तार-विभाग में हो गई। अपनी योग्यता और तत्परता से वे सेवा कार्य में लगातार उन्नति करते गए। एक बार उनका अपने अंग्रेज अधिकारी से मनमुटाव हो गया और वे द्विवेदी जी को दबाने की कोशिश करने लगा। अपने अधिकारी के व्यवहार से क्षुब्ध व परेशान होकर उन्होंने अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु सरकारी नौकरी से त्यागपत्र दे दिया और पूर्ण रूप से साहित्य सेवा में लीन हो गए। सन् 1903 में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के संपादक का कार्यभार संभाला और जीवन पर्यन्त सारा समय हिंदी सेवा में बिताया। उन्होंने सरस्वती पत्रिका का संपादन जिस तत्परता, लगन, नियमितता एवं निःस्वार्थ भाव से किया उसका वर्णन उस काल के 'सरस्वती' अंक में खुद-ब-खुद दिख जाता है। उनकी साहित्यिक सेवा इतनी गुरुतर थी कि उन्हें श्रद्धा-सुमन अर्पित करने के विचार से सन् 1931 में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'आचार्य' तथा हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा 'विद्या वाचस्पति' की पदवी से विभूषित किया गया। हिंदी गद्य को अपनी विशिष्ट प्रतिभा से संपन्न बनाकर अनवरत सेवा करने वाले आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी का स्वर्गवास 21 दिसंबर 1938ई. में रायबरेली में हो गया।

बाल्यावस्था में जब द्विवेदी जी ने तुलसीकृत 'रामचरितमानस' पढ़ा तभी से उनका झुकाव हिंदी साहित्य की ओर हो गया। मुंबई पहुँचकर यह रूचि और प्रबल हो उठी। फलतः वे कविताएँ लिखने लगे। समय की परिपाटी के अनुसार उनकी प्रारंभिक रचनाएँ ब्रजभाषा में ही हुईं किंतु शीघ्र ही उन्हें पता लग गया कि हिंदी के क्षेत्र-विस्तार के लिए बोलचाल की भाषा खड़ी बोली में ही साहित्य रचना आवश्यक है। तत्पश्चात् उन्होंने खड़ी बोली को न केवल स्वयं अपनाया बल्कि एक कुशल पथप्रदर्शक की भाँति कितने ही लेखकों को अपने साथ लेकर उसे साहित्य का सर्वमान्य भाषा भी बना दिया। अपने 20 वर्ष के सरस्वती के संपादन काल में आचार्य द्विवेदी जी ने जहाँ भाषा के परिष्कार और उसके स्वरूप-निर्धारण के लिए अथक प्रयास किया था वहीं हिंदी में लेखकों तथा कवियों की एक पीढ़ी का निर्माण भी किया। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त जैसे प्रतिभाशाली कवि और अमर शहीद गणेश शंकर विद्यार्थी जैसे तेजस्वी पत्रकार तथा उपन्यास सम्राट प्रेमचंद्र जैसे रत्न आचार्य द्विवेदी जी की ही देन हैं। द्विवेदी जी मौलिक और अनूदित-पद्य और गद्य ग्रंथों की कुल संख्या 80 से उपर है। अकेले गद्य में इनको 14 अनूदित और 50 मौलिक कृतियाँ प्राप्त हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नांकित हैं-

**काव्य संग्रह-** नागरी (1901ई.), काव्य मंजूषा (1903ई.), कविता कलाप (1909ई.), सुमन (1923ई.), द्विवेदी काव्यमाला (1940ई.) आदि।

**निबंध व आलोचना-** हिंदी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1899ई.), नैषधचरित चर्चा (1900ई.), हिंदी कालिदास की समालोचना (1901ई.) हिंदी भाषा की उत्पत्ति (1907ई.) संपत्तिशास्त्र (1908ई.) कालिदास की निरंकुशता (1912ई.), नाट्यशास्त्र (1912ई.), कविता विलाप (1918ई.), रसज्ञ रंजन (1920ई.) कालिदास और उनकी कविता (1920ई.), सुकवि संकीर्तन (1924ई.), साहित्यालाप (1926ई.), विज्ञ-विनोद (1926ई.) कोविद कीर्तन (1928ई.), आलोचनाजलि (1928ई.), साहित्य संदर्भ (1928ई.), चरित्र-चित्रण (1929ई.), प्राचीन चिह्न (1929ई.), चरित चर्चा (1930ई.), साहित्य सीकर (1930ई.), वाग्विलास (1930ई.), विचार विमर्श (1931ई.) आदि ।



**अनुवाद-** ऋतुतरंगिणी (1891 ई., कालिदास के ऋतुसंहार का छायानुवाद), गंगा लहरी (1891ई., पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सर्वेयों में अनुवाद), भामिनी विलास (1891 ई., पंडित जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद), बेकन-विचार-रत्नवली (1901 ई., बेकन के प्रसिद्ध निबंधों का अनुवाद) शिक्षा (1906ई., हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्युकेशन' का अनुवाद), स्वाधीनता (1907ई., जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद), रघुवंश (1912ई., रघुवंश महाकाव्य का भाषा अनुवाद), वेणी-संहार (1913 ई., संस्कृत कवि भट्टनारायण के वेणी संहार नाटक का अनुवाद), किरातार्जुनीय (1917ई., भारवि के ' किरातनार्जुनीयम' का अनुवाद) आदि। इसके अतिरिक्त भी उनकी कई बालोपयोगी एवं अन्य पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

### **महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि**

महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी आलोचना के शिखर पुरूषों में से हैं। वे हिंदी के विशाल आलोचना-भवन की सुदृढ़ नींव के संस्थापक हैं। परंपरागत साहित्यिक धारणाओं तथा आदर्शों की उपेक्षा करके उन्होंने ही सर्वप्रथम चिंतन तथा मनन के आधार पर निजी विचारों का प्रतिपादन करके परंपरागत आलोचना की शैली तथा विषय तत्त्व में परिवर्तन उपस्थित किया। यद्यपि उनकी आलोचना आज के मानदंडों के विचार से आधुनिक नहीं कही जाएगी किंतु वह हिंदी के लिए पहली आधुनिक आलोचना अवश्य थी। वे सच्चे आलोचक की भाँति कभी भी अपने युग की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से अलग नहीं रहे। उन्होंने हिंदी की आवश्यकताओं को समझकर अपनी आलोचना को उन पर आधारित किया तथा गुण-दोष विवेचन की पक्षपातपूर्ण शैली की अपेक्षा चिंतन तथा पक्षपातहीन निर्णय करने का आदर्श प्रस्तुत किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी चूंकि संस्कृत के विद्वान थे, इसलिए उन्होंने आलोचनात्मक लेखन का आरंभ संस्कृत के कवियों और उनकी रचनाओं पर विचार करने से ही किया। आलोचना के संदर्भ में द्विवेदी जी के विचार निश्चित थे। उन्होंने हिंदी कालिदास की समालोचना में सुबंधु की 'वासवदत्ता' के निर्माकित श्लोक को उद्धृत करके आलोचना के अर्थ और प्रयोजन के संदर्भ में दर्शाया था-

**'गुणिनापि निजरूपप्रतिपत्तिः परत एवं संभवति  
स्वमहिम दर्शनमक्षणोमुर्कुरकरतले जायते यस्मात्।'**

अपने इसी विचार को उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' में स्पष्ट करते हुए लिखा कि- 'कवि या ग्रंथकार जिस मतलब से ग्रंथ रचना करता है उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले आलोचक की बड़ी ही जरूरत होती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियों के गूढ़ाशय मामूली आदमियों की समझ में आ जाते हैं। कालिदास की शकुंतला, प्रियंवदा और अनसूया में क्या भेद है? उनके स्वभाव चित्रण में कवि ने कौन-कौन सी खूबियाँ रखी हैं? उनसे क्या-क्या शिक्षा मिलती है? ये बातें सब लोगों के ध्यान में नहीं हो सकती अतएव वे उनसे लाभ उठाने से वंचित रह जाते हैं। इसे थोड़ी हानि न समझिए। इससे कवि के उद्देश्य का अधिकांश हिस्सा व्यर्थ हो जाता है। योग्य समालोचक समाज को इस हानि से बचाने की चेष्टा करता है।' (कालिदास और उनकी कविता पृष्ठ-13) द्विवेदी जी की आलोचना में मूल संदर्भ यही है कि वे रचना को जन सामान्य से परिचित कराते हैं।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में **मूल्यवादी दृष्टिकोण** को ही अपनाया है। उन्होंने अपनी आलोचना का आधार समष्टिगत, नैतिक एवं सौंदर्य मूल्यों को बनाया है। भारतेंदु युगीन आलोचकों की तुलना में इनकी आलोचना में मूल्यात्मक विकास है और यह विकास एक ओर वैयक्तिक मूल्यों के आधार पर है तो दूसरी ओर स्पष्ट रूप से सौंदर्य मूल्यों की चेतना में दृष्टिगोचर होता है। विचार स्वातंत्र्य को वैयक्तिक मूल्य के रूप में स्वीकार करने के बावजूद द्विवेदी जी इसमें उच्छृंखलता और व्यक्ति-वैचित्र्य को स्वीकार नहीं करते हैं।

परंपरा-विच्छिन्न होना उनकी सुरुचि के विपरीत था। सुधारवादी प्रवृत्ति के कारण द्विवेदी जी की आलोचना में समष्टिगत मूल्यों का महत्त्व दिखता है। रीतिकालीन वैयक्तिक मूल्यों के वे विरोधी थे और काव्य की विषय वस्तु के लिए अब उन्हें नायिका-भेद स्वीकार नहीं था, इसलिए उन्होंने कहा कि कविता किसी भी विषय पर लिखी जा सकती है केवल उसमें मनोरंजन और उपदेश होना अनिवार्य है। उनका मानना है कि कविता का विषय मनोरंजक और उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे-किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। अब चींटी से लेकर हाथी पर्यंत पशु, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यंत मनुष्य, बिंदु से लेकर समुद्र पर्यंत जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनंत पर्वत सभी पर कविता हो सकती है, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है।

राष्ट्र-प्रेम, संस्कृत-प्रेम और राष्ट्रभाषा हिंदी प्रेम को उन्होंने समष्टिगत मूल्यों के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। राष्ट्रप्रेम की भावना उस समय के युग की मांग थी। इसीलिए द्विवेदी जी ने भी राष्ट्रप्रेम को अपनी आलोचना का आधार बनाया। बाबू शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' की आलोचना द्विवेदी जी ने राष्ट्रप्रेम के आधार पर करते हुए कहा है कि जिस पाठक ने इस पुस्तक से मातृभूमि के प्रति भक्ति का भाव ग्रहण न किया, वह जीवन्मृत ही है- 'रही शिक्षा-प्राप्ति की बात। सो इस विषय में तो हम इस पुस्तक को अद्वितीय ही समझते हैं। इसे पढ़कर भी जिस अभागे के हृदय में अपनी मातृभाषा और अपनी मातृभूमि के विषय में भक्ति की धारा न बही, स्रोत का भी प्रवाह न बह उठा उसे जीवन्मृत ही समझना चाहिए।' (समालोचना समुच्चय, पृ.76)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी मूलतः एक **शास्त्रीय आलोचक** थे। उन्होंने परंपरायुक्त साहित्यिक प्रतिमानों को उदार भावना से ग्रहण किया है। उनकी आलोचना में आचार्यत्व के प्रकृति के अनुकूल ही खंडन-मंडन की प्रवृत्ति, शास्त्रार्थ की क्षमता व टीका तथा सूक्ति पद्धति का स्वरूप लक्षित होता है। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना में नवीन उद्भावनाओं के साथ ही पारंपरिक सैद्धांतिक आलोचना का भी ध्यान रखा है। इनकी सैद्धांतिक आलोचना वस्तुतः काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण और ध्वन्यालोक जैसे संस्कृत ग्रंथों के अनुकूल ही है। 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'कवि और कविता' में उन्होंने शास्त्रीय निरूपण किया तो 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' जैसे आलोचनात्मक निबंधों में काव्य के प्राचीन उपाख्यानों को नवीन दृष्टि से सुसज्जित और चित्रित करने के प्रेरणा दी; इसी प्रेरणा का परिणाम मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' है। 'कवि और कविता', 'कविता तथा कवि कर्तव्य' ऐसे निबंध हैं जिससे आचार्य द्विवेदी की काव्य-विषयक धारणाओं का पता चलता है। द्विवेदी जी यथार्थ को काव्य का आवश्यक तत्त्व मानते हैं। यथार्थ से उनका तात्पर्य कवि द्वारा अनुभूत सत्य से है। इसी में उन्होंने कवियों के लिए 'प्रकृति विकास को खूब ध्यान से देखने' और प्रकृति पर्यालोचन के सिवा मानव स्वभाव की आलोचना को आवश्यक माना है। उनके द्वारा व्याख्यायित सूत्र को ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'प्रकृति विकास' पर यही ध्यान और 'मानव-स्वभाव' की यही आलोचना आगे चलकर पंडित रामचंद्र शुक्ल के प्रकृति प्रेम और करुणा में दिखलाई पड़ती है। मानव स्वभाव की आलोचना को आवश्यक मानते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है कि '.....जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं, वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता' (ज्ञानमासी, पृ.-111)

द्विवेदी जी की आलोचना के मूल में शास्त्र के स्थितिशील तत्वों की उपेक्षा, प्राचीनता से उचित का ग्रहण और अनुचित का त्याग, नवीनता से विवेकपूर्ण स्वीकृति, समाज संसार को महत्त्व, उपयोगिता, सोद्देश्यता, सदाशयता स्वाभाविकता, सरसता और प्रभावोत्पादन की क्षमता को काव्य के आवश्यक तत्वों के रूप में प्रतिष्ठित करने का आग्रह आदि है। इसी दृष्टि के आधार पर उन्होंने भारतेंदु युग के लेखकों, मिश्रबंधुओं के 'हिंदी नवरत्न' तथा मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत-भारती' की आलोचना की है। भारत-भारती की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा है कि यह काव्य वर्तमान हिंदी साहित्य में युगांतर उत्पन्न करने वाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह

आदर्श का काम देता है। यह सोते हुए को जगाने वाला है, आत्म विस्मृतों को पूर्ण स्मृति में लाने वाला है। इसमें वह संजीवनी शक्ति है, जिसकी प्राप्ति हिंदी के और किसी-काव्य में नहीं हो सकती। वे उन्हीं कवियों को श्रेष्ठ मानते हैं जो पवित्र भावों और विचारों का चित्रण अपने काव्य में करते हैं। 'हिंदी नवरत्न' की आलोचना करते हुए द्विवेदी जी ने अपने पवित्र भावों को प्रस्तुत करने वाले कवियों को ही महाकवि मानने का मत प्रस्तुत किया है। बिहारी को रत्न मानने का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'लेखकों ने जिसे महाकवि की उपाधि दी है उसे उस तरह तालाब के किनारे मोछ मरोड़ते हुए खड़ा करना और यह कहना कि नरों और नारियों, दोनों को स्नान करते समय, देखने ही के लिए ये यहाँ आए हैं, बहुत ही अनुचित जान पड़ता है।' (समालोचना समुच्चय, पृ.-206)।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की समालोचनाओं का सैद्धांतिक पक्ष तो अत्यधिक उभरा हुआ था ही, किंतु उसका **व्यावहारिक पक्ष** भी कम प्रभावी नहीं था। उनकी व्यावहारिक समालोचनाओं से व्याख्या, विश्लेषण और निर्णय की अपूर्व प्रज्ञा प्राप्त होती है। उनकी व्यावहारिक आलोचना पद्धति में प्रायः नवीन तथा पुरातन दोनों प्रकार की शैलियों के रूप मिलते हैं। उन्होंने संस्कृत काल की उन पद्धतियों को भी अपनाया, जो रीतिकाल में अपनाई गई थीं तथा पाश्चात्य शैलियों को भी अपनाया जो अंग्रेजी की देन थीं। इनके व्यावहारिक आलोचना की दो कोटियाँ हैं- पहला प्राचीन कवियों के संबंध में लिखी गई आलोचनाएँ और दूसरा समकालीन कवियों और लेखकों की वृत्तियों की आलोचनाएँ। प्राचीन कवियों की आलोचनाओं के संदर्भ में द्विवेदी जी ने 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा, नैषधचरित चर्चा, 'कालिदास', 'कालिदास की निरंकुशता' आदि जैसे बड़े-बड़े निबंध लिखकर प्राचीन कवियों की कृतियों की आलोचना का सूत्रपात किया। उन्होंने समकालीन साहित्यकारों की कृतियों पर अलग से कोई आलोचना ग्रंथ नहीं लिखा किंतु वे पत्र-पत्रिकाओं में विशेषतया 'सरस्वती' में, जिसके वे संपादक थे- छोटी-छोटी रिव्यू लिखा करते थे। जिन ग्रंथों में अभारतीयता का भाव होता था, जिनकी भाषा गंदी होती थी, उनके लेखकों को द्विवेदी जी बड़ी खरी-खोटी सुनाते थे, लेकिन ऐसा उन्हीं के साथ करते थे जो पंडित बनते थे। नए लोगों की गलतियों का वे स्वयं परिश्रम से परिमार्जन करते थे।

द्विवेदी जी **लोकवादी व आदर्शवादी आलोचक** थे, जो साहित्य की कलात्मकता को महत्व देते हुए भी नीतिवादिता की प्रवृत्ति का परित्याग नहीं कर सकते थे। वे अपनी साहित्यालोचना द्वारा समाज में सात्विक आदर्श-भाव और जनसामान्य के प्रति सहानुभूति को बढ़ाना चाहते थे और मानवीय हृदय में पलने वाली हीन भावनाओं को कम करने की कोशिश में थे। 1903 ई. में 'सरस्वती' का संपादन भार ग्रहण करने के बाद से उनका संबंध हिंदी साहित्य से निरंतर गाढ़ा होता गया, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने हिंदी साहित्य को आलोचना का विषय बनाया और अपनी आलोचना के माध्यम से उसमें नवचेतना के प्रसार के लिए अथक प्रयास किया। जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाने के लिए द्विवेदी जी ने सच्ची और उचित आलोचना की। उस समय पत्र-पत्रिकाओं का नया युग था, पत्रों और पुस्तकों के नए पाठक तथा लेखक थे। सभी की बुद्धि अपरिपक्व और सभी को पथप्रदर्शक की आवश्यकता थी। युग के सामयिक मांग को द्विवेदी जी ने स्वीकार किया। यही कारण है कि उनकी अधिकांश रचनाएँ पत्रिकाओं के लेख रूप में ही प्रकाशित हुईं। वे सत्य की अभिव्यंजना करके उपेक्षा, निंदा, अनादर, गाली आदि सभी कुछ सहने को प्रस्तुत थे। उनकी आलोचनाओं की प्रमुख विशेषता हिंदी के प्रति पूजा भाव, आराधना और तप में है। कोरा आलोचक होने और अपनी साधना के बल पर युग का मानचित्र परिवर्तित कर देने में कौड़ी-मुहर का-सा अंतर है। (महावीरप्रसाद द्विवेदी: डॉ. उदयभानु सिंह, पृ.-136)। द्विवेदी जी साहित्य और मनुष्य में गहरा संबंध मानते हैं। डॉ. उदयभानुसिंह ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के तेरहवें अधिवेशन के अवसर पर स्वागताध्यक्ष पद से दिए गए उनके भाषण के आधार पर लिखा है कि 'द्विवेदी जी का कथन है कि साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे,

मनोवेग परिष्कृत हो जाए और आत्म गौरव की उद्भावना हो।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनका युग, पृ.-121)

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती का संपादन करते हुए संपादकीय टिप्पणियों, स्वतंत्र समालोचनात्मक निबंधों, साहित्यिक कवि चर्चाओं, सामाजिक विधारधाराओं, पुनरूत्थानवादी व्याख्या और परंपरागत सैद्धान्तिक निरूपणों को लेकर जिस आलोचना साहित्य का निर्माण किया है, उसका स्थायी महत्त्व है। 'सरस्वती' के संपादन से खड़ी बोली आंदोलन को बहुत महत्त्व मिला। भारतेंदु युग की आलोचना के केंद्र में 'नाटक' दिखता है जबकि द्विवेदी जी ने अपनी आलोचना का केंद्र 'कविता' बनाया। इसका प्रमुख कारण यह था कि द्विवेदी युग में कविता को प्रमुखता मिलने लगी थी, साथ ही कविता की भाषा को लेकर समस्या खड़ी हो गई थी। भाषा को लेकर समस्या यह थी कि कविता की भाषा खड़ी बोली हो या ब्रजभाषा। द्विवेदी जी ने भाषा के रूप में खड़ी बोली का न केवल समर्थन किया बल्कि अपनी पत्रिका सरस्वती के माध्यम से जोरदार वकालत भी की। खड़ी बोली को अपनाने के पीछे उनका जनवादी आग्रह था। उनका मानना था कि ब्रजभाषा एक क्षेत्र विशेष तक सीमित हो गई थी और खड़ी बोली बोलचाल की भाषा बन गई थी। बोलचाल की भाषा होने के कारण ही उन्होंने खड़ी बोली में कविता-रचना का सुझाव देते हुए लिखा कि 'बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए। कोई कारण नहीं कि हम लोग बोले एक भाषा और कविता दूसरी भाषा में हो बातचीत के समय जो जिस भाषा में अपने विचार प्रकट करता है वह यदि उसी भाषा में कविता भी करे तो और भी उत्तम। ब्रजभाषा बहुत काल से कविता में प्रयुक्त होती आई है। पर एक अथवा दो जिले की भाषा पर देश भर के निवासियों का प्रेम बहुत दिन तक नहीं रह सकता।' (साहित्यालाप, पृ.-61)

द्विवेदी जी काव्य में सरल भाषा लिखने के पक्षपाती थे, साथ ही वे व्याकरण के नियम और भाषा संस्कार पर भी बल देते थे। 'निराला जी ने आचार्य द्विवेदी के युग निर्माता व्यक्तित्व को काव्य की भाषा में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि खड़ी बोली के घर को साहित्य के विस्तृत प्रांगण में स्थापित कर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने मंत्रपाठ द्वारा देश के नवयुवक समुदाय को एक अत्यंत शुभ मुहूर्त में आमंत्रित किया और इस घर में कविता की प्राण प्रतिष्ठा की। हिंदी साहित्य की वर्तमान धारा पूर्ण ज्ञान के महासागर की ओर जितना ही आगे बढ़ती जाएगी, लोग उतना ही उनके महत्त्व को समझेंगे।' (आलोचना के सौ बरस: भाग-1, संपादक-अरविंद त्रिपाठी के पृष्ठ-12 से उद्धृत)। व्याकरण सम्मत भाषा के बावजूद वे क्लिष्ट भाषा और दूररूढ़ कल्पना को वे काव्य का दोष समझते थे। उन्होंने काव्य में छंदों का सापेक्षिक महत्त्व ही स्वीकार किया है क्योंकि कविता का अच्छा या बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रस बाहुल्य पर निर्भर करता है। मुहावरे को भी वे अपनी भाषा में महत्त्व देते थे। उनके अनुसार- 'मुहावरे का भी विचार रखना चाहिए, क्योंकि मुहावरे ही भाषा का प्राण है।' (रसज्ञ रंजन, पृ.-18)

द्विवेदी जी एक **प्रगतिशील विचारक** भी थे। उनके इस विचार को 'कविता का भविष्य' निबंध में देखा जा सकता है। उनके सामाजिक चेतना की इसी प्रगतिवादी दृष्टि के कारण डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है- 'महावीरप्रसाद द्विवेदी की सामाजिक चेतना की तुलना 19वीं सदी के पाश्चात्य प्रगतिशील विचारकों की सामाजिक चेतना से की जाए तो देखा जाएगा कि बीसवीं सदी का आरंभ होते-होते हिंदी बुद्धिजीवियों की सामाजिक चेतना तेजी से बदल रही है और पूर्ववर्ती पाश्चात्य विचारकों की चेतना के समानांतर आगे बढ़ रही है। यहीं कारण है कि इतिहास और समाजशास्त्र के विवेचन में द्विवेदी जी की विचारधारा इतनी आधुनिक और वैज्ञानिक दिखाई देती है और दार्शनिक विषयों का विवेचन वे नवीन बुद्धिवादी तार्किक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं। यह स्थिति दर्शन और इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं है, इनके साथ साहित्य के क्षेत्र में भी वही चेतना सक्रिय है।' (महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृष्ठ-227)। इसी संदर्भ में डॉ. नामवर सिंह भी इन्हें लोकवादी समीक्षक मानते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि द्विवेदी जी की आलोचना दृष्टि उस पूरे युग की सर्जनात्मक चेतना की प्रेरक उन्नायक, विधायक एवं परिष्कारक के रूप में दिखती है। वे वैयक्तिक मूल्यों के खिलाफ और समष्टिगत मूल्यों के आग्रही थे, इसलिए उन्होंने रीतिकालीन वैयक्तिक मूल्यों को खारिज किया है। उन्होंने हिंदी आलोचना को नैतिक स्तर प्रदान करते हुए काव्य में मंगल भाव को अपरिहार्य माना है। उन्होंने अपनी आलोचना के द्वारा विशिष्ट का अध्ययन नहीं किया है बल्कि सामान्य को विशिष्ट की दिशा में अग्रसर किया है। निःसंदेह रूप से कहा जा सकता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी आलोचना के आधार स्तंभ हैं, जिन्होंने हिंदी के शैशवकालीन साहित्य को अपनी समष्टिगत नैतिक आदर्शों और परंपरा तथा नवीनता से समावेश कर चलना सिखाया। अतः वे अपने युग के सबसे बड़े आलोचक थे।

### सहायक ग्रंथ

1. भारतेंदु और भारतीय नवजागरण - संपादक, शंभुनाथ
2. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी - रामेश्वर उपाध्याय
3. हिंदी आलोचना का विकास - डॉ. नंदकिशोर नवल
4. हिंदी आलोचना एक नई दृष्टि - डॉ. रमेशचंद्र लवानिया
5. महावीरप्रसाद द्विवेदी - उदयभानु सिंह
6. आलोचना के तीन आयाम - डॉ. रमेश तिवारी
7. आधुनिक हिंदी समीक्षा प्रकीर्णक से पद्धति तक - डॉ. यदुनाथ सिंह
8. आधुनिक हिंदी साहित्य में आलोचना का विकास - राजकिशोर कक्कड़
9. भारतेंदु हरिश्चंद्र - मदन गोपाल
10. आलोचना के सौ बरस (भाग-1), संपादक - अरविंद त्रिपाठी
11. भारतेंदु हरिश्चंद्र - प्रकाश विभाग
12. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2) - संपादक: डॉ. धीरेंद्र वर्मा

## रामचंद्र शुक्ल और डॉ. नगेंद्र की आलोचना दृष्टियाँ

—डॉ. आलोक रंजन पांडेय

असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग

हंसराज महाविद्यालय, दिल्ली-110007

### जीवन परिचय

हिंदी साहित्य के आधार स्तंभ, चिंतक, वरेण्य आलोचक, उत्कृष्ट निबंधकार, साहित्येतिहास दार्शनिक, सिद्धहस्त कवि और नीर-क्षीर विवेक से संपन्न संपादक तथा सफल अध्यापक आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म 1884ई. में पूर्वी उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता चंद्रबली शुक्ल हमीरपुर जिले की 'राठ' तहसील में प्रबंधक कानूनगों थे। शुक्ल जी की शिक्षा की शुरुआत यहीं से हुई। यहीं पर इन्होंने उर्दू, फारसी और अंग्रेजी का अध्ययन प्रारंभ किया। 14 वर्ष की उम्र में शुक्ल जी ने उर्दू के साथ मिडिल परीक्षा उत्तीर्ण की। स्कूल में उन्हें हिंदी की शिक्षा नहीं मिली। हिंदी का संस्कार उन्हें अपने पितामही से प्राप्त हुआ था। वे हिंदी में रुचि रखती थी। 'रामचरितमानस' और 'विनय पत्रिका' उनके प्रिय ग्रंथ थे। वे प्रायः शुक्ल जी को अपने पास बिठाकर 'रामचरितमानस' का पाठ किया करती थीं। शुक्ल जी में जो तुलसी के प्रति अगाध विश्वास था वह उन्हें वही से प्राप्त हुआ था। 1898 ई. में शुक्ल जी का विवाह हो गया। 1901ई. में शुक्ल जी ने हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण की। शुक्ल जी की चित्रकला और साहित्य में विशेष रुचि थी किंतु गणित की नीरस प्रक्रिया से उन्हें घृणा-सी थी। अतः इंटर अंतिम वर्ष की परीक्षा दिए बिना ही 'प्लीडरशीप' या मुख्यतयारी का अध्ययन करने प्रयाग चले गए। प्रयाग में ही उनका साहित्यानुराग विकसित और मुखरित हुआ। वहाँ दो वर्ष व्यतीत कर वे पिता के पास मिर्जापुर चले आए और 'लंदन मिशन स्कूल' में चित्रकला अध्यापक बन गए। कुछ दिनों तक 'प्रेमघन' जी द्वारा मिर्जापुर से प्रकाशित शुद्ध साहित्यिक पत्रिका 'आनंद कादंबिनी' का संपादन भी किया।

डॉ. श्यामसुंदर दास जी काशी नागरी-प्राचारिणी सभा के 'हिंदी शब्द सागर' के संपादन में सहयोगी के रूप में 1908ई. में शुक्ल जी को काशी ले आए और 1919ई. में हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में नियुक्त करवाया। 1908ई. से लेकर 1919ई. तक का समय शुक्ल जी के मानसिक बौद्धिक विकास के निखार और उत्कर्ष का है। इस दौरान उन्होंने इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान और विज्ञान का उत्साह से अध्ययन किया और लेखन के नाम पर कोश के लिए संगृहीत शब्दों पर प्रामाणिक टिप्पणियों के साथ 'नागरी प्रचारिणी' पत्रिका को नया रूप देने और समृद्ध करने के लिए विभिन्न विषयों पर निबंध लिखा। जब 1919ई. में इनकी नियुक्ति काशी हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में अध्यापक के रूप में हुई तब से लेकर जीवन के अंतिम क्षणों (2 फरवरी 1941) तक इन्होंने हिंदी विभाग की सेवा की। दुहरा शरीर, चश्मे से झाँकते हुए नेत्र एवं मूँछों से भरा हुआ प्रसन्न चेहरा सब मिलाकर 'शुक्ल' जी का व्यक्तित्व बड़ा गंभीर एवं प्रभावपूर्ण बनाता था। वे उच्च कोटि के विचारक तथा भारतीय संस्कृति के भक्त थे। प्रकृति के प्रति उनका विशेष अनुराग था। उनका अंग्रेजी और हिंदी पर एक सा अधिकार था। उन्होंने अंग्रेजी में एक लेख (What India has to do) लिखा था, जिसमें देश-प्रेम और स्वाभिमान की भावना स्पष्ट रूप से दिखती है।

शुक्ल जी एक सुविख्यात निबंधकार एवं प्रबुद्ध समालोचक के रूप में प्रसिद्ध हैं, किंतु उनके साहित्यिक जीवन का आरंभ कविता, कहानी और नाटक रचना से होता है। उनकी प्रथम रचना एक कविता थी जो 1896 ई. में 'आनंद कादंबिनी' में भारत और बसंत नाम से छपी थी। इसी तरह उनके द्वारा-लिखित कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' सरस्वती में प्रकाशित हुई थी, जो हिंदी की प्रारंभिक चार सर्वश्रेष्ठ कहानियों में से है। शुक्ल जी का

साहित्यिक जीवन विविध पक्षों वाला है। उन्होंने ब्रजभाषा और खड़ी बोली में फुटकर कविताएँ लिखी तथा एडविन आर्नल्ड के 'लाइट ऑफ एशिया' का ब्रजभाषा में 'बुद्धचरित' के नाम से पद्यानुवाद भी किया। 1919 ई. में मालवीय जी के आग्रह पर जब शुक्ल जी ने अध्यापन आरंभ किया तब उन्होंने विश्वविद्यालय में हिंदी विषय के स्वीकृत होने के बाद पाठ्यक्रम के अनुरूप पुस्तकें उपलब्ध न होने की समस्या को चुनौती के रूप में स्वीकार किया। स्वयं स्तरीय ग्रंथों की रचना की और संपादन कार्य भी किया। 'रस मीमांसा' तथा 'चिंतामणि' में संग्रहित लेख, जायसी, तुलसी और सूर पर लिखी उनकी महत्वपूर्ण आलोचनाएँ, हिंदी साहित्य में मील का पत्थर मानी जाने वाली कृति 'हिंदी साहित्य का इतिहास' एवं अनेक ग्रंथ इसी अकादमिक चुनौती को स्वीकार करके रचे गए। शुक्ल जी द्वारा विरचित प्रमुख मौलिक और अनूदित रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

**मौलिक रचनाएँ-** कविता क्या है?(1909 ई.), बाबा राधाकृष्णदास का जीवनचरित (1913ई.) काव्य में प्राकृतिक दृश्य (1922 ई.), भ्रमरगीतसार (1922 ई.), गोस्वामी तुलसीदास (1923 ई.), महाकवि सूरदास (1924 ई.), जायसी ग्रंथावली (1924 ई.), वीरसिंह देव चरित (1926 ई.), काव्य में रहस्यवाद (1929 ई.), हिंदी साहित्य का इतिहास (1929 ई.), हिंदी शब्द सागर कोश (1929 ई.), विचार वीथी (1930 ई.) काव्य में अभिव्यंजनावाद (1935ई.), चिंतामणि (भाग-1, 1939 ई.) चिंतामणि (भाग-2, 1939 ई.), रस मीमांसा ( आचार्य शुक्ल के काव्य चिंतन संबंधी निबंधों का सुनियोजित संग्रह, संपादक विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, 1949ई.), मधुस्रोत (शुक्लजी की 1901 से 1929ई. के बीच लिखित कविताओं का संग्रह, 1971ई.) आदि।

**अनूदित रचनाएँ-** कल्पना का आनंद (एडिसन कृत प्लेजर ऑव इमेजिनेशन का अनुवाद, 1901ई.), मेगस्थानीज का भारतवर्षीय विवरण (डॉ. श्वान बक की पुस्तक मेगास्थानीज इंडिका का अनुवाद, 1906ई.), विश्वप्रपंच (द यूनिवर्स का अनुवाद, 1920ई.) बुद्धचरित (1922ई.) आदि।

## रामचंद्र शुक्ल की आलोचना-दृष्टि

आलोचना उन विधाओं में से है जो पश्चिमी साहित्य की नकल पर नहीं बल्कि अपने साहित्य को समझने-बूझने और उसकी उपादेयता पर विचार करने की आवश्यकता के कारण जन्मी और विकसित हुई और इस आलोचना को धार और परिपक्वता शुक्ल युग में आकर मिली। इस युग के केन्द्रीय समीक्षक आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी रहे, यद्यपि उनके समकालीन 'बाबू गुलाबराय', 'बाबू श्यामसुंदर दास' आदि समीक्षक भी आलोचना क्षेत्र में सक्रिय भूमिका निभा रहे थे। शुक्ल जी ने आलोचना के तेवर व कलेवर में अभूतपूर्व परिवर्तन कर दिया। निश्चित मानदंड व अद्भुत सहृदयता के साथ शुक्ल जी ने आलोचना-क्षेत्र में प्राण फूंक दिए। उन्हीं के शब्दों में 'यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण-दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुँचीं। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेदन होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत कम दिखाई पड़ी।' (हि. सा.इ.,पृ-492)।

शुक्ल जी आधुनिक आलोचना के अधिकृत आचार्य हैं। उन्होंने पारंपरिक काव्य चिंतन को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि तथा पाश्चात्य काव्य चिंतन के आलोक में पुनर्व्याख्यायित करके समृद्ध और प्रासंगिक बनाया। जहाँ वे भरत, अभिनव और मम्मट की परंपरा से जुड़े दिखाई देते हैं वही दूसरी ओर अरस्तू, आर्नल्ड, रिचर्ड्स और इलियट से संवाद स्थापित करते भी नज़र आते हैं। शुक्ल जी की दृष्टि वैज्ञानिक, प्रगतिशील एवं इहलौकिक थी। शुक्ल जी एक युग विधायक और आलोचनात्मक मानदंड के निर्माता हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को नई दिशा एवं नई जमीन दी है। 'हिंदी साहित्य में कविता के क्षेत्र में जो स्थान निराला का रहा और उपन्यास के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचंद का रहा, आलोचना के क्षेत्र में वही स्थान आचार्य रामचंद्र शुक्ल का है।' (आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिंदी

आलोचना- डॉ. रामविलास शर्मा)। इनके द्वारा तैयार किए गए प्रतिमान मौलिक और प्रौढ़ थे। अपने अतीत व समकालीनता से जुड़ कर उन्होंने आलोचना की दशा व दिशा बदल दी। इनकी सूक्ष्म दृष्टि ने अब तक हुई आलोचनाओं की कमजोरियों को परख लिया था। अतः वे साहित्य की बहिरंग सजावट के बजाय काव्य की आत्मा, रचनाकार की दृष्टि तथा उनके उद्देश्य को समझ सके और यही समझ उन्हें अन्य आलोचकों से अलग खड़ा करती है।

आचार्य शुक्ल की दृष्टि आलोचना पद्धति के लिए काफी संश्लिष्ट थी परन्तु वह स्पष्टता लिए हुए भी थी। उन्होंने सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार की आलोचनाओं में बखूबी हस्तक्षेप किया। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि के महत्त्व को इस तथ्य से जाना जा सकता है कि उनके समकालीन आलोचक उनकी धारा में तो बहे ही तथा उनके बाद के आलोचकों ने भी या तो उनकी परंपरा का निर्वाह किया या उनकी परंपरा से जुड़कर ही नई धारा का संज्ञान करवाया। इस प्रकार शुक्ल जी के बाद की आलोचना उनकी दृष्टियों के समर्थन या विरोध में खड़ी इमारत सी लगती हैं। आज भी वे उतना ही महत्त्व रखते हैं जितना उस समय में। उनके तर्क आज भी अकाट्य हैं और उनकी पैनी-पारखी नज़र आज भी कबिलेतारीफ है। हिंदी की लगभग 150 वर्षों की आलोचना के इतिहास में शुक्ल जी केंद्रीय पुरुष आज भी बने हुए हैं, उनको छोड़ कर किसी साहित्यिक विषय पर कोई चर्चा न शुरू की जा सकती है और न ही समाप्त। इसी से उनकी आलोचना दृष्टि की उपादेयता समझी जा सकती है। शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि पूर्णतः स्पष्ट, परिपक्व एवं विकसित है। उनकी सैद्धान्तिक व व्यावहारिक आलोचना दृष्टि को निम्न रूप में समझा जा सकता है।

### सैद्धान्तिक दृष्टि

सैद्धान्तिक दृष्टि से वे 'रससिद्धांत' के समर्थक और पोषक हैं परन्तु उन्होंने शब्दशक्ति, रीति, और अलंकार को कमतर महत्त्व नहीं दिया है। उन्हीं के शब्दों में "शब्द-शक्ति, रस, रीति और अलंकार-अपने यहां की ये बातें काव्य की स्पष्ट और स्वच्छ मीमांसा में कितने काम की हैं, मैं समझता हूँ, इनके संबंध में अब और अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। देशी-विदेशी, नई-पुरानी सब प्रकार की कविताओं की समीक्षा का मार्ग इनका सहारा लेने से सुगम होगा।" (काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ.-226)

उनकी आलोचना दृष्टि सूक्ष्म, तार्किक, विश्लेषणात्मक व निगमनात्मक विधि पर आधारित थी। वे रसवादी, लोकमंगलवादी जैसे उच्च आदर्शों को लेकर साहित्य में चलते हैं। वे हमेशा कबीर की तरह प्रत्यक्षवादी बने रहे। जाति, वातावरण तथा क्षण इन तीनों तत्वों को उन्होंने काव्य की आत्मा में झांक कर देखा। उनकी जाति समाज से जुड़ी थी, वातावरण चित्तवृत्ति को बनाने वाली स्थिति तथा क्षण वह काल था जिसमें रह कर रचनाकार ने उस साहित्य का सृजन किया था। इन तीनों तत्वों को लेकर वे उस छत पर जा पहुँचते हैं जहां से खड़े होकर साहित्यकार ने अपने युग को अपनी कविता को उन कवियों में व्याप्त दर्द को लिखा और महसूस किया था। उनकी प्रत्यक्षवादी दृष्टि उनकी आलोचना को वैज्ञानिक चिंतन देती है, जिसके द्वारा वे साहित्य की आलोचना करते हैं। उनकी सैद्धान्तिक मान्यताएँ, चिंतामणि के निबंधों में समाई हुई है। उनमें ही उन्होंने सैद्धान्तिक समीक्षा के प्रतिमान निश्चित किए हैं। इसे 'कविता क्या है?', 'काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद', 'रसात्मक बोध के विविध रूप' 'काव्य और प्रकृति', 'काव्य में अर्थ की योग्यता', 'प्रत्यक्षानुभूति एवं रसानुभूति', 'निबंध क्या है?' आदि निबंधों द्वारा समझी जा सकती है। उन्होंने, पारंपरिक रसवादी विवेचन जो अपने आरंभिक दिनों के व्यापकता के बावजूद पंडित जगन्नाथ तक आते-आते संकीर्ण हो गया था उसे लोकमंगल के आदर्शवादी, उच्च भावभूमि से अनुनाद कराकर पुनः उसमें विस्फोट सा कर दिया। साहित्य में सरसता महसूस की जाने लगी। हर साहित्य को लोकमंगलवाद की कसौटी पर कसा जाने लगा। रहस्यवाद (काव्य में रहस्यवाद) की जटिलताओं से दूर जाकर इन्होंने स्पष्टता को महत्त्व दिया। साधारणीकरण की व्याख्या में उन्होंने एक नई अवधारणा का भी सूत्रपात किया।



शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि वृहद जनवादी थी। हिंदी शब्द सागर की भूमिका जो बाद में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के रूप में आई, में उन्होंने अपनी आलोचनात्मक धारणा को स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया है। जिसमें जनता और साहित्य की पारस्परिक रिश्तों को स्वीकार किया गया है। उनकी आलोचना दृष्टि की सबसे बड़ी उपलब्धि लोकमंगलवाद का मानक है जिसके लट्ठे से किसी भी साहित्य की सुंदरता, आदर्शपूर्ण-सामाजिक-कल्याणपरक स्थिति की उत्पत्ति की जा सकती है। यह कसौटी उनकी हिन्दी आलोचना को दी गई सबसे बड़ी उपलब्धि है। "कविता का उद्देश्य हृदय को लोकमानस की भावभूमि पर पहुँचा देना है। यह कहना निश्चित ही जनतांत्रिक परंपरा को सुदृढ़ करना है। वे लोक की भूमि पर अपने कदम मजबूती से जमाकर जीवन एवं साहित्य पर दृष्टि डालते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं।" (विश्वनाथ त्रिपाठी-हिंदी आलोचना पृ.-55)। काव्यशास्त्र संबंधी विवेचन में भी उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव एवं रस की पुनः व्याख्या की है। भाव उनके लिए "मन की वेगयुक्त अवस्था विशेष है, प्रत्यक्ष बोध अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति इन तीनों के गुण संश्लेष का नाम भाव है। मुक्त हृदय मनुष्य अपनी सत्ता को लोक सत्ता में लीन किए रहता है। लोक हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है। (रस मीमांसा, पृष्ठ-217)। उनकी प्रत्येक दृष्टि तार्किक व मनोवैज्ञानिक आधार लिए हुए थी रस की व्याख्या भी इससे अछूती नहीं रही।

'साधारणीकरण' प्रकृति के प्रत्येक दर्शन में होता है। जिस तरह काव्य में साधारणीकरण के फलस्वरूप काव्य के पात्रों की आत्मा का एकाकार हमारी आत्मा से हो जाता है, उसी तरह प्रकृति दर्शन, उसके सृष्टि सौन्दर्य के दृष्टिपात से भी हमें आनंद दुःख आदि भावों की प्राप्ति हो जाती है। यह साधारणीकरण का व्यापक स्वरूप परिलक्षित कराता है और इस व्यापकता को शुक्ल जी जैसे उत्कृष्ट आलोचक ही महसूस कर सकते हैं। शुक्ल जी काव्य के संदर्भ में अनुभूति या भाव और कल्पना दोनों को समान महत्त्व देते हुए कहते हैं, 'काव्य के संबंध में 'भाव' और 'कल्पना' ये दो शब्द बराबर सुनते-सुनते कभी-कभी यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनों समकक्ष हैं या इनमें कोई प्रधान है। यह प्रश्न या इसका उत्तर ज़रा टेढ़ा है, क्योंकि रस-काल के भीतर इनका युगपद अन्योन्याश्रित व्यापार होता है।' (चिंतामणि भाग-2, पृ.103)। इसके बावजूद भी शुक्ल जी ने कल्पना के अतिरेक को काव्य में वर्जित ही माना है। उनकी दृष्टि में काव्य का वह साधन मात्र है। इसलिए उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा के उन सभी सिद्धान्तों का निषेध किया जिनमें कल्पना को अतिरिक्त महत्त्व दिया गया था तथा प्रस्तुत विधान की उपेक्षा की गई थी। इन सिद्धान्तों में कलावाद, अभिव्यंजनवाद (Expressionism), मूर्तिमतवाद (Imaginism), संवेदनावाद (Impressionism) प्रतीकवाद (Symbolism) आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त उपमान युक्त 'छायावाद' 'व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' और अंतश्चेतनावाद का विरोध किया और विरोध का मूल कारण इन सभी सिद्धान्तों का 'व्यक्तिवादी' दृष्टि से प्रेरित होना बताया।

## व्यावहारिक दृष्टि

शुक्ल जी की सैद्धान्तिक समीक्षा साहित्यिक रचनाओं के आधार पर स्थापित है अतः उनकी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा में संगति है। वे जहाँ सिद्धान्त प्रतिपादन में प्रवृत्त होते हैं, वहाँ प्रचुर उदाहरण और उद्धरण देकर अपने कथन को प्रमाणित कर देते हैं। उनके सिद्धान्त ऊपर से थोपे हुए नहीं बल्कि साहित्य के रसास्वादन के माध्यम से प्राप्त हुए निष्कर्ष हैं वे ही उनके समीक्षा सिद्धान्त हैं। (हिन्दी आलोचना-विश्वनाथ त्रिपाठी, पृ. 67,)

आलोचना के लिए सहृदयता आवश्यक होती है। शुक्ल जी ने प्राचीन साहित्य की युगानुकूल व्याख्या करते हुए इसे अपने युग की सौन्दर्य दृष्टि से व्याख्या कर प्रासंगिक व सन्दर्भवान बना दिया। तुलसीदास, सूरदास, जायसी, वाल्मीकि, कालिदास को प्रासंगिक व पुनः प्रतिष्ठित करने का श्रेय शुक्ल जी को है। वे शील, शक्ति, सौंदर्य को किसी भी नायक का उत्कृष्टतम गुण मानते थे। शुक्ल जी का अधिकांश महत्त्वपूर्ण लेखन 'भूमिका' के रूप में हुआ। उनके काव्यचिंतन का विकास उनके प्रिय कवियों की व्याख्या के दौरान हुआ। इससे उन्हें हर भाव के प्रति गहरी

व गूढ़ जानकारी मिल गई और उनमें अन्तर करने योग्य सामर्थ्य भी। 'भाव या मनोविकार' का विशद विवेचन चिंतामणि में मिलता है। भाव या मनोविकार, ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, लोभ और प्रीति, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, भय आदि का उन्होंने विशद विश्लेषण व व्याख्या की। 'तुलसी का भक्तिमार्ग', 'मानस की धर्मभूमि', आनन्द की सिद्धावस्था, 'मलिक मुहम्मद जायसी', 'सूरदास', 'तुलसी की भावुकता', 'बिहारी लाल', 'घनानन्द', 'भारतेंदु और उनका मंडल', 'श्रीधर पाठक और स्वच्छंदतावाद', 'छायावाद' आदि निबंधों में उनकी व्यावहारिक आलोचना दृष्टि मिलती है। जिसमें उन्होंने करुणा, प्रेम, शील व आनंद दशा की साधनावस्था तथा सिद्धावस्था को अनुभव किया और उन सबकी लोकमंगलवादी दृष्टि से व्याख्या भी की है। आचार्य शुक्ल ने अपने सुचिंतित काव्य-प्रतिमानों का अपनी व्यावहारिक समीक्षाओं में बड़ी कुशलता से विनियोग किया। उनकी दृष्टि व्यावहारिक होते हुए भी सूक्ष्म विश्लेषण युक्त व मर्मग्राहिणी थी तथा वे आलोचना करते समय दूसरे आलोचकों से भी यही आशा करते थे उनका कथन था कि- " इसके लिए सूक्ष्म विश्लेषण- बुद्धि और मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.-249)। शुक्ल जी ने स्थायी साहित्य में स्थान पानेवाले-तुलसी, जायसी, तथा सूर पर स्वतंत्र रूप में लिखी गई अपनी समीक्षाओं में इन कवियों की विचारधारा में डूबकर उनकी अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण करने में अपनी सूक्ष्म बुद्धि और मर्म ग्राहिणी प्रज्ञा का परिचय दिया है।

'तुलसीदास' काल क्रमानुसार उनकी पहली समीक्षा कृति है। शुक्ल जी ने इसे गोस्वामी तुलसीदास के महत्त्व के साक्षात्कार और उनकी विशेषताओं तथा उनके साहित्य में छिपी दृष्टियों के लघुप्रयत्न के रूप में लिखा। इसमें उन्होंने तुलसीदास की भक्ति पद्धति, उनके आदर्श, उनकी लोकमंगलवादी दृष्टि तथा लोकादर्श का नितांत मौलिक व उत्कृष्टतम स्वरूप से विवेचन किया है। तुलसीदास चूंकि उनके प्रतिमान हैं, आदर्श हैं, समन्वय संस्थापक हैं अतः शुक्ल जी ने उनके व्यक्तित्व व उनके काव्य की गहरी छानबीन की। किसी कवि को महान बनाने के लिए एक बड़े आलोचक की भी आवश्यकता होती है इस अर्थ में तुलसी का काव्य शुक्ल जी का ऋणी है। शुक्ल जी के अनुसार तुलसीदास शुद्ध भारतीय परम्परा समाज व संस्कृति के जीते जागते प्रतीक थे तथा उनका काव्य इसका प्रमाण बना। उनके राम शील, शक्ति व सौन्दर्य से युक्त लोकोत्तर चरित्र हैं और उनके उपास्य भी। गोस्वामी तुलसीदास के राम में भक्तों के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करके उसे अपनी वृत्तियों की ओर ढालने की अद्भुत क्षमता है और यही शील उनके भक्तों के भक्ति का मूल है। शुक्ल जी का इस सन्दर्भ में कथन है कि- 'भक्ति और शील की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से है, जिस प्रकार आश्रय व आलम्बन की। और आगे चलिए तो आश्रय और आलम्बन की परस्पर स्थिति भी ठीक उसी प्रकार है जैसे ज्ञाता और ज्ञेय की।'

शुक्ल जी के अनुसार राम का अयोध्या से निर्वासन, वन गमन, चित्रकूट में भरत और राम का मिलन, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा आदि रामकथा के मर्मस्पर्शी संदर्भ हैं। चित्रकूट में 'भरत और राम का मिलन' के संदर्भ में शुक्ल जी कहते हैं- "यह शील और शील का, स्नेह और स्नेह का तथा नीति और नीति का मिलन है। इस मिलन के संघटित उत्कर्ष की दिव्य प्रभा देखने योग्य, यह झाँकी अपूर्व है।" (गोस्वामी तुलसीदास पृ.-52)।

शुक्ल जी वस्तु परिगणन शैली को हेय मानते थे और इसीलिए वे तुलसीदास के वस्तु परिगणन शैली की उपेक्षा की प्रशंसा करते हैं। भावों के उत्कर्षक के रूप में जब गोस्वामी जी अलंकारों का प्रयोग करते हैं तो शुक्ल जी भी इस प्रयोग का समर्थन करते हैं। शुक्ल जी मर्यादावादी थे जिनके सामाजिक आदर्श भी उच्च भावभूमि पर स्थित थे। अतः वे तुलसीदास के काव्य में भी आदर्शों व लोक मर्यादाओं को देखते हैं उनके रामराज्य की स्थापना की लोकमंगलवादी दृष्टि से वे अभिभूत हो जाते हैं। वे तुलसी की सहृदयता, प्रबन्धात्मक शक्ति, मेधा, भावुकता, अनुभूति, प्रभाव-साम्यता, रसवादिता आदि की प्रशंसा करते हैं तथा उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित करते हैं। तुलसी के काव्य की विशेषताएँ शुक्ल जी की व्यावहारिक आलोचना को दृष्टि प्रदान करते हैं तथा सैद्धान्तिक

आलोचना का निर्माण करते हैं। शुक्ल जी इसके लिए गोस्वामी जी के कृतज्ञ हैं तथा तुलसी का काव्य शुक्ल जी जैसा महान आलोचक पाकर अमर हो गया।

जायसी को शुक्ल जी ने श्रेष्ठता के दूसरे पायदान पर स्थान दिया है, इसका कारण पद्मावत में व्याप्त प्रबंध नियोजन, लोकधर्मिता तथा मानवीयता ही है। जायसी का उदात्त हृदय एकता में विश्वास रखता है। जायसी के अनुसार हिंदू मुस्लिम सभी का सुख-दुःख व विरह एक है। 'शुक्ल जी ने जायसी की अपनी दो सौ पृष्ठों की विस्तृत समीक्षा में प्रेम गाथा परंपरा, जायसी का जीवन वृत्त, पद्मावत की कथा और उसका ऐतिहासिक आधार, पद्मावत की प्रेमपद्धति, ईश्वरी-मुख-प्रेम, मत और सिद्धांत, जायसी का रहस्यवाद, जायसी की जानकारी आदि अनेक विषयों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है किंतु उनकी प्रवृत्ति मुख्यतः जायसी की प्रबन्ध कल्पना, स्वभाव चित्रण, रस-निरूपण, भाव व्यंजना, अलंकार विधान और काव्यभाषा जैसे विषयों के विवेचन में ही रमी है निश्चय ही इन विषयों का उनका विवेचन श्लाघ्य है।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- रामचन्द्र तिवारी, पृ. 62)। शुक्ल जी ने जायसी के विरह वर्णन की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं। पद्मावत में नागमती का विरह पशु-पक्षी सभी को एकसूत्र में बांधती है। इसलिए शुक्ल जी उद्घोषणा करते हैं कि 'जायसी का विरह वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है।' (जायसी ग्रंथावली, पृ. 40)

शुक्ल जी ने तुलसी और जायसी के समकक्ष ही सूरदास को माना है। इस संदर्भ में वे सूरदास की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि 'यदि हम मनुष्य जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं तो सूरदास की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है, पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों- (शृंगार तथा वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर उनकी पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टि विस्तार और किसी कवि का नहीं है।' (भ्रमरगीत सार की भूमिका, पृ.2)। सूर के हृदय से निकली प्रेम की तीन प्रबल धाराओं (विनय के पद, बाल लीला के पद और प्रेम संबंधी पद) से सूर ने बड़ा भारी सागर तैयार कर दिया। इस सागर में शुक्ल जी का मन रमता रहता है। गोप जीवन की स्वच्छंदता, गोचारण के मधुर दृश्य, गोपियों का दारुण वियोग तथा बाल कृष्ण की हठ चपलता, क्षोभ, प्रतिबिम्ब के पकड़न, चंद्रमा को खिलौना समझकर माँगने की हठ और माखन चोरी आदि जैसे भावों का सूर ने उत्कृष्टतम वर्णन किया जिस पर शुक्ल जी जैसे सहृदय समालोचक के मन का मुग्ध होना स्वाभाविक ही था। वे सूर की वाग्वैदग्ध्य, व्यंजना तथा अद्भुत कल्पना शक्ति की प्रशंसा करते हैं।

शुक्ल जी ने छायावाद में उपस्थित रहस्यवादिता का विरोध किया। इसी आधार पर उन्होंने कबीर के काव्य का भी विरोध किया था। परन्तु उन्होंने अभ्यान्तर प्रभाव-साम्य के अनुसार अप्रस्तुत की योजना को छायावाद की बहुत बड़ी विशेषता माना है। शुक्ल जी ने छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद को रहस्यवाद के करीब खड़ा करके उनके समस्त काव्य (खासकर कामायनी) को उस आनंदवाद का प्रवर्तक बना दिया जो एकांतिक प्रेम की वकालत करता है।

इस प्रकार शुक्ल जी की आलोचना पांडित्यपूर्ण चिंतन, मौलिक विवेचन और गहन अनुशीलन का ऐतिहासिक मानदंड है। महाकवि तुलसीदास, सूरदास, जायसी पर लिखी गयी विस्तृत समालोचनाओं तथा ग्रन्थ भूमिकाओं द्वारा जहाँ उनकी मौलिक तर्क पूर्ण और अकाट्य स्थापनाएँ प्रकाश में आईं वहीं हिंदी समालोचना की दृष्टि व्यवस्थित और विकसित हो पाई है। जीवन की समग्रता के कारण ही आचार्य शुक्ल 'विरुद्धों का सामंजस्य' देखने के आग्रही थे। उन्होंने हिंदी की सैद्धान्तिक समीक्षा को नया तथा मौलिक रूप प्रदान किया। पाश्चात्यवादी प्रवृत्तियों एवं विचारधाराओं का गहरा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद उसे नवीन परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का श्रेय शुक्लजी को जाता है। उनके अनुसार 'किसी साहित्य में केवल शहर की भद्दी नकल से अपनी उन्नति या प्रगति नहीं की जा सकती। बाहर से सामग्री आए खूब आए परन्तु वह कूड़ा-करकट के रूप में न इकट्ठी हो जाए, उसकी कड़ी परीक्षा हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय, जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता

पहुंचे।” (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ.-550)। शुक्ल जी प्रथम ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने हिंदी में सैद्धान्तिक समीक्षा के स्वतंत्र प्रतिमानों को विकसित किया है तथा उनकी प्रासंगिकता को व्यावहारिक साहित्य पर कसते हुए आगे बढ़ाया है। हिंदी के मौलिक समीक्षा शास्त्र की नींव भी उन्होंने रखी तथा उसे दृढ़ आधार भी प्रदान किया। वे क्रान्तिकारी युग प्रवर्तक आलोचक थे। उन्होंने साहित्य को रीतिवादी मानसिकता से पूर्णतः मुक्त कराते हुए रस जैसे वैयक्तिक तत्व को लोकमंगल से जोड़कर उसके भीतर निहित सामाजिक पक्ष को उभारा। उन्होंने संस्कृत के मानदंड व अंग्रेजी समीक्षा के प्रतिमानों से भी हिंदी आलोचना को सुसज्जित करते हुए साहित्य के संबंध में सुसंगत दृष्टिकोण का निर्माण किया है। उनके इस दृष्टिकोण का आधार ज्ञान का भौतिकवादी सिद्धांत है, जिसके अनुसार ज्ञान और भाव का आधार यह भौतिक जगत ही है। नलिन विलोचन शर्मा ने अपनी पुस्तक ‘साहित्य का इतिहास दर्शन’ में कहा है कि शुक्ल जी से बड़ा समीक्षक संभवतः उस युग में किसी भी भारतीय भाषा में नहीं था। यह बात देखने पर उचित ठहरती है बल्कि ऐसा लगता है कि समीक्षक के रूप में शुक्ल जी अब भी अपराजेय हैं। निश्चितरूपेण शुक्ल जी की आलोचना दृष्टि अत्यन्त उदात्त, व्यापक जीवन दृष्टि लिए हुए लोकमंगलवादी धरातल पर फैली हुई है। निश्चित रूपेण शुक्ल जी हिंदी आलोचना के शिखर पुरुष व अधिकृत आचार्य हैं।

## डॉ. नगेंद्र

### जीवन परिचय

छायावादी कविता को स्थापित करने वाले, पश्चिमी और भारतीय कविता को समन्वित करने वाले सेतु, साधारणीकरण के व्याख्याता और महान रसवादी आलोचक डॉ. नगेंद्र का जन्म 9 मार्च 1915 ई. को अलीगढ़ के ‘अतरौली’ ग्राम में एक संपन्न परिवार में हुआ था। इनके पिता पंडित राजेंद्र जी सुधारवादी आर्यसमाजी व प्रसिद्ध विचारक थे। डॉ. नगेंद्र की आरंभिक शिक्षा-दीक्षा पंडित प्रसादीलाल चूड़ामणि और वीरेंद्र शास्त्री की देखरेख में हुई, जिनकी जीवन दृष्टि का प्रभाव डॉ. नगेंद्र के जीवन पर भी दिखता है। डॉ. नगेंद्र की प्राइमरी शिक्षा अतरौली ग्राम से तथा हाईस्कूल की परीक्षा उन्होंने 1930 ई. में एंग्लो वैदिक हाईस्कूल, अनूपशहर से उत्तीर्ण की। इंटरमीडियट उन्होंने चंदौसी से तथा बी.ए. और एम.ए. की परीक्षा अंग्रेजी में सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा से उत्तीर्ण की। 1937 ई. में इनकी नियुक्ति अंग्रेजी अध्यापक के रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय के कॉलेज ऑफ कॉमर्स में हुई। अंग्रेजी के साथ-साथ उनका रुझान हिंदी साहित्य की ओर भी था। उन्होंने 1937 ई. में ही एम.ए. (हिंदी) की उपाधि नागपुर विश्वविद्यालय से और डी.लिट. की उपाधि हिंदी में ही 1947 ई. में आगरा विश्वविद्यालय से प्राप्त की। इनके शोध का विषय ‘रीतिकालीन पृष्ठभूमि में देव का स्थान’ था। 1947 ई. में वे अध्ययन कार्य छोड़ आकाशवाणी में आ गए, तत्पश्चात पुनः 1952 ई. में वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने और 1970 ई. तक हिंदी विभाग के अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। 50 के दशक में हिंदी साहित्य का केंद्र प्रयाग व काशी होता था लेकिन डॉ. नगेंद्र ने अपने अथक परिश्रम व साहित्य सेवा के बल पर साहित्य का केंद्र दिल्ली विश्वविद्यालय को बनाया। इसी समय उन्होंने डॉ. महेंद्र कुमार, डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. नित्यानंद तिवारी, और मन्नू भंडारी जैसे कर्मठ रचनाकारों को दिल्ली विश्वविद्यालय में स्थान दिया। डॉ. नगेंद्र के जीवन पर राजनैतिक रूप से पंडित जवाहरलाल नेहरू और साहित्यिक दृष्टि से बाबू गुलाबराय का गहरा प्रभाव था। आजीवन साहित्य सेवा करने वाले डॉ. नगेंद्र का देहावसान 28 अक्टूबर 1999 ई. हो गया।

मर्मभेदी आलोचक एवं कुशल निबंधकार के रूप में प्रसिद्ध डॉ. नगेंद्र के साहित्यिक जीवन का प्रारंभ भी आचार्य शुक्ल की तरह ही एक कोमल, भावुक और कल्पनाशील कवि के रूप में हुआ था। इनका पहला काव्यसंग्रह 1937 ई. में ‘बनबाला’ शीर्षक से प्रकाशित हुआ। तबसे लेकर जीवनपर्यन्त तक इन्होंने साहित्य सेवा की। उनकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

सुमित्रनंदन पंत (1938 ई.), साकेत-एक अध्ययन (1939 ई.), नाटक (1940 ई.) विचार और अनुभूति

(1944 ई.), विचार और विवेचन (1951ई.), आधुनिक हिंदी काव्य की मुख्य प्रवृत्तियाँ (1951 ई.), काव्य-चिंतन (1951 ई.), अनुसंधान और आलोचना (1951 ई.), विचार और विश्लेषण (1955ई.) अरस्तू का, काव्यशास्त्र (1957 ई.), कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ (1962 ई.) आलोचक की आस्था (1966ई.), चेतना के बिंब (1967 ई.), रस सिद्धांत (1964 ई.), काव्य बिंब (1967 ई.) आस्था के चरण (1967ई.), तंत्रलोक से यंत्रलोक तक (1968 ई.), नई समीक्षा: नए संदर्भ (1970 ई.), समस्या और समाधान (1971ई.) आदि।

## डॉ. नगेंद्र की आलोचना दृष्टि

शुक्लोत्तर हिंदी आलोचना के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय रहकर प्रभूत ग्रंथों की रचना एवं संपादन करने वालों में डॉ. नगेंद्र सर्वोपरि हैं। अपनी पहली आलोचनात्मक निबंध 'छायावाद' (1937ई.) से लेकर मृत्युपर्यंत लगभग 62 वर्षों तक वे इस क्षेत्र में छाए रहे। इनकी पहली आलोचनात्मक कृति 'सुमित्रानंदन पंत' (1938ई.) शुक्ल जी के जीवनकाल में ही निकल चुकी थी। शुक्ल जी ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में इस पुस्तक की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'काव्य की छायावाद कही जाने वाली शाखा चले काफी दिन हुए। पर ऐसी कोई समीक्षा-पुस्तक देखने में न आई जिसमें उक्त शाखा की रचना प्रक्रिया (Technique) प्रसार की भिन्न-भिन्न भूमियाँ सोच-समझकर निर्दिष्ट की गई हों। केवल नगेंद्र की 'सुमित्रानंदन पंत' पुस्तक ही ठिकाने की मिली है" (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-564)। डॉ. नगेंद्र शुक्ल जी द्वारा मिली प्रशंसा से उत्साहित होकर ही हिंदी आलोचना की ओर अधिक सक्रिय हुए जिसकी स्वीकृति उन्होंने स्वयं की है- 'पहली कृति का ही हार्दिक स्वागत हुआ..... और कविता का खुमार सचमुच ही धीरे-धीरे टूटने लगा, बाह्य जीवन के विषय में मेरा जो दृष्टिकोण और मूल्य बनते जा रहे थे उनमें बुद्धि तत्व की मात्रा बढ़ने लगी थी, अतः उनकी अभिव्यक्ति के लिए आलोचनात्मक गद्य का माध्यम अधिक सुगम और अनुकूल पड़ा।' (आस्था के चरण, पृष्ठ 4-5) । डॉ. नगेंद्र के सफल आलोचक बनने की पृष्ठभूमि में एक और कारण यह भी था कि वे अध्यापक के साथ-साथ अथक परिश्रमी भी थे।

डॉ. नगेंद्र अपने दृष्टिकोण में व्यक्तिवादी और रसवादी है और युग के वातावरण के अनुरूप उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने अपनी आलोचना की शुरुआत व्यावहारिक आलोचना से की थीं किंतु धीरे-धीरे उनकी रूचि काव्यशास्त्र की ओर हो चली। इस संदर्भ में डॉ. रामदरश मिश्र ने लिखा है- 'डॉ. नगेंद्र ने अपनी आलोचना यात्रा का आरंभ किया समकालीन सर्जना के परीक्षण से, किंतु वे साथ ही साथ शास्त्र से भी जुड़ते गए। इसलिए उन्होंने समकालीन साहित्य चेतना को तो परखा ही, साथ ही साथ उसे पहले के साहित्य और साहित्य चिंतन के संदर्भ में रखकर उन बुनियादी तत्वों की खोज में अपने को प्रवृत्त किया जो एक युग के साहित्य को दूसरे युग के साहित्य से, एक देश के साहित्य को दूसरे देश के साहित्य से जोड़ते हैं। इतना ही नहीं बल्कि अनेक विधाओं, ऊपरी चमत्कारों, अनेक विषयों के मूल में स्थित तात्त्विक चारूता की खोज में लीन हुए और इस खोज में अनेक शास्त्रकारों के चिंतन ने उनके विश्वास को बल प्रदान किया।' (हिंदी आलोचना: प्रवृत्तियाँ और आधार भूमि, पृष्ठ-206)।

## व्यावहारिक आलोचना

व्यावहारिक आलोचना का प्रधान उपजीव्य रचनात्मक कृतियाँ हैं जो आलोचक की रूचि, राग-बोध तथा सौंदर्यानुभूति की दिशा व्याप्ति और गहराई बतलाती है। इस दृष्टि से डॉ. नगेंद्र की व्यावहारिक समीक्षा की चार दिशाएँ निर्धारित हो सकती हैं- कालखंड का ऐतिहासिक साहित्यिक विवेचन काव्य-प्रवृत्ति-समीक्षा, कलाकार विवेचन और कृति विवेचन। कालखंड के ऐतिहासिक साहित्यिक विवेचन के अंतर्गत डॉ. नगेंद्र की आलोचना में रीतिकाल और आधुनिक काल ही महत्वपूर्ण हैं। डॉ. नगेंद्र रीतिकाल के प्रेमी और प्रशंसक हैं। उन्होंने इस संदर्भ में अपने एक भाषण में संकेत करते हुए कहा था कि 'मैं रीति काव्य का प्रेमी हूँ और रहूँगा- ऐसा कहने में भय

नहीं। काव्य के प्रति दृष्टि बदल सकती है। परंतु जीवन के तत्त्वों के प्रति जो दृष्टिकोण रहता है, वह स्थिर ही होता है। रोमानी काव्य के प्रति हम जिस आनंदवादी दृष्टिकोण को अपनाते हैं उसी दृष्टिकोण के आधार पर रीतिकाव्य का भी मूल्यांकन करना चाहिए, वही वास्तविक दृष्टि है।' (27.12.66 को भारतीय हिंदी परिषद के बाईसवें वार्षिक अधिवेशन में 'रीतिकाव्य का पुनर्मूल्यांकन' में डॉ. नगेंद्र द्वारा दिए गए भाषण का अंश)। रीतिकाव्य की आलोचना में डॉ. नगेंद्र का यही दृष्टिकोण सर्वत्र दिखता है। रीति-कवियों का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने बताया है कि रीतिकालीन कवियों के मधुर छंदों ने पराभव मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरस रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसी को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने बताया है कि वाक्यं रसात्मकं काव्यं की कसौटी के आधार पर ही रीति-काव्य को तिरस्कृत नहीं किया जा सकता। कला की दृष्टि से रीतिकाव्य की महत्ता असंदिग्ध है। इस संदर्भ में डॉ. नगेंद्र ने लिखा है कि 'मुक्तक परंपरा की गोष्ठीमंडन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही संभव हो सका।' (अनुसंधान और आलोचना, पृ.-34)

रीतिकाव्य के बाद आधुनिक काल में प्रवाहित विभिन्न वादों के विवेचन के अतिरिक्त डॉ. नगेंद्र ने इस युग में विकसित विभिन्न साहित्य रूपों जैसे - आलोचना, उपन्यास, शोध, आधुनिक साहित्य और नाटक आदि काव्य विधाओं की सम्यक समीक्षा प्रस्तुत कर अपनी जागरुकता का परिचय दिया है। नाटक की आलोचना में वे फ्रायडीय मनोविज्ञान से प्रभावित हैं। अपनी आलोचना कृति 'आधुनिक हिंदी नाटक' में उन्होंने विषय वस्तु की दृष्टि से सांस्कृतिक चेतना, नैतिक चेतना, समस्या के अंतर्गत वैयक्तिक और राजनीतिक समस्याओं पर आधारित नाटकों की आलोचना के उपरांत उसकी अभिव्यंजना पक्ष पर विचार किया है। फ्रायड के प्रभाव के कारण उनका नाट्य विवेचन अत्यंत मनोवैज्ञानिक है। अपने इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर उन्होंने सांस्कृतिक चेतना से युक्त नाटकों में जीवन का स्वस्थ उपभोग या जीवन के विरुद्ध जमकर युद्ध के अभाव का दर्शन कराया है। समाज की मर्यादाओं से उत्पन्न सेक्स की समस्या संबंधी हिंदी नाटककारों के समाधान का आधार भी उनके अनुसार 'बैद्धिक अथवा आर्थिक न होकर आध्यात्मिक है - युग धर्म (गाँधीवाद) का प्रभाव इसके लिए उत्तरदायी है। (आधुनिक हिंदी नाटक, पृष्ठ-52)

**काव्य-प्रवृत्ति** आलोचना के अंतर्गत डॉ. नगेंद्र छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नई कविता की समीक्षा की है। आधुनिक काल में उत्पन्न उक्त वादों की उत्पत्ति की आलोचना के मूल में इनका सिद्धांत यह है कि प्रत्येक परवर्ती काव्य-धारा का संबंध पूर्ववर्ती काव्यधारा से होता है। वह उसके परिवेश से ही निकलती है। उन्होंने साहित्यिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की सापेक्षता में ही विभिन्न वादों की आलोचना की है जो उनकी सहृदयता एवं निष्पक्षता का ही द्योतक है। छायावाद को उन्होंने 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' बताया है जो वस्तुतः बाह्य से अभ्यंतर का प्रवेश था। यह उपयोगिता के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रुढ़ियों के प्रति मानसिक स्वच्छंदता, बंधनों के खिलाफ कल्पना का शिल्प का और विद्रोह था। छायावाद संबंधी समस्त भ्रांतियों का निराकरण करते हुए डॉ. नगेंद्र अपना निर्णय देते हैं कि 'भाव पर बल देने पर भी छायावादी काव्य प्रथम श्रेणी में नहीं आ सकते, क्योंकि कुंठा की प्रेरणा प्रथम श्रेणी के काव्य को जन्म नहीं दे सकती। किंतु जिस कविता ने जीवन के सूक्ष्मतम मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा द्वारा नवीन सौंदर्य-चेतना जगाकर एक वृहद समाज की अभिरुचि का परिष्कार किया उसका महत्व अक्षय है। (आधुनिक हिंदी कविता का मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ-22)। सामाजिक चेतना को उद्बुद्ध करने की दृष्टि से उन्होंने प्रगतिवादी कविता को श्रेष्ठ माना है, किंतु प्रयोगवादी और नई कविता के संबंध में उनका प्रश्न यह है कि वास्तव में यह कविता किसके लिए लिखी जा रही है।

**युग कलाकार तथा कृति**-तीनों दिशाओं में डॉ. नगेंद्र ने कार्य किया है, किंतु उनकी दृष्टि अन्य साहित्यालोचकों की अपेक्षा कलाकार या कवि पर ही अधिक केंद्रित रही है। युग की आलोचना करते समय भी

उन्होंने उन युगीन परिस्थितियों को अपने विवेचन के अंतर्गत लिया है, जिन्होंने कवि या कलाकार की मानसिक स्थिति को और उसकी कृति को भी प्रभावित किया है। कृतियों की समीक्षा करते समय भी, उन्होंने कृति के मूल में छिपे हुए कवि के व्यक्तित्व को बाहर लाने की कोशिश की है। कवि या कलाकार की आलोचना के अंतर्गत डॉ. नगेंद्र ने देव, सुमित्रानंदन पंत, तुलसीदास, केशव, बिहारी, मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, दिनकर, बच्चन, गिरिजाकुमार माथुर, निराला, महादेवी, प्रसाद, प्रेमचंद, दिनकर, आचार्य शुक्ल और श्यामसुंदर दास आदि का सम्यक विवेचन प्रस्तुत किया है। लेकिन इन सबमें उन्होंने देव और पंत की विवेचना विशद रूप में की है। रीतिकाल की पृष्ठभूमि में देव का भाव पक्ष अत्यंत समृद्ध होने एवं अपने शोध का विषय होने तथा पंत की सूक्ष्म कलात्मक अभिव्यंजना के कारण इन दोनों कवियों पर उनकी लेखनी ज्यादा चली है। रीतिकालीन कवियों का कला-पक्ष समृद्ध माना जाता था एवं उनका भाव पक्ष स्थूल एवं बहिर्मुखी माना जाता था, किंतु देव का भावपक्ष अपेक्षाकृत सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पुष्ट था। डॉ. नगेंद्र देव की समीक्षा इसी आधार पर करते हैं। भाव पक्ष के अंतर्गत देव के काव्य में शृंगार वर्णन की दोनों दशाओं का वर्णन सूक्ष्मता से किया गया है। जहां संयोग शृंगार में रूप वर्णन और मिलन दोनों का वर्णन मिलता है वहीं वियोग वर्णन में भी देव ने पीड़ा की गहरी अनुभूति को दर्शाया है। इस संबंध में डॉ. नगेंद्र ने लिखा है कि 'यह कवि पीड़ा की गहरी अनुभूतियों से परिचित था, अतः इसे अतिशयोक्ति और उहात्मक पर निर्भर नहीं रहना पड़ा। इसलिए विरह की आग विकलता और ताप के वर्णन में भी देव ने भावना की गंभीरता और स्वाभाविकता को ही अभिव्यक्त किया है, उनकी तीव्रता भी अनुभूति पर आश्रित है। अलंकार के चमत्कार पर नहीं।' (देव और उनकी कविता-पृ.109)। देव के कला पक्ष का विवेचन करते हुए उन्होंने बताया है कि रीतिकालीन कला में पाई जाने वाली कृत्रिमता देव में नहीं है, और उनका अभिव्यंजना पक्ष भी अनुभूति से ही प्रेरित है।

सुमित्रानंदन पंत को पढ़ने से पता चलता है कि पंत जी चिंतनशील व्यक्ति हैं और वे अपने बाह्य और अंतर दोनों के निर्माण में सदैव सचेत रहते हैं। पंत जी प्रधानतः कलाकार हैं और उनकी कला मनन प्रवृत्ति का फल है। इसी आधार पर पंत जी की आलोचना करते हुए डॉ. नगेंद्र ने लिखा है कि 'छायावादी कवियों में पंत जी का प्रभुत्व प्रकृति और मानव का संपर्क तथा कला क्षेत्र पर हुआ। जहां तक मननशीलता का संबंध है, यहाँ पंत जी का विशेष स्थान है। कलाकार की, दृष्टि से पंत जी का स्थान हिंदी में सर्वोच्च है।' (सुमित्रानंदन पंत, पृ.-131)। डॉ. नगेंद्र के व्यावहारिक-समीक्षा की एक विशेषता यह भी है कि वह अत्यंत व्यापक और सहृदयतापूर्ण है। डॉ. नगेंद्र की आलोचना कृति 'सुमित्रानंदन पंत' की आलोचना करते हुए स्वयं पंत ने लिखा है कि, "उन्होंने (डॉ. नगेंद्र ने) पर्याप्त अध्ययन एवं मनन के पश्चात अत्यंत सहृदयता के साथ मेरी रचनाओं के गुण-दोषों का विवेचन किया है।" (सुमित्रानंदन पंत: डॉ. नगेंद्र, निवेदन-सुमित्रानंदन पंत)।

**कृति-समीक्षा** के अंतर्गत डॉ. नगेंद्र ने 'साकेत' और 'कामायनी' पर विशेष रूप से लिखा है। साकेत में भौतिक जीवन का व्यापक चित्रण मिलता है तो कामायनी में देशकाल निरपेक्ष मानव मन के विविध पहलुओं का सूक्ष्म अंकन हुआ है। साकेत के सृजन के मूल में दो प्रेरणाएँ थीं- राम भक्ति और भारतीय जीवन को समग्र रूप में देखने और समझने की लालसा। इन्हीं के आधार पर डॉ. नगेंद्र 'साकेत' की सफलता का मूल्यांकन प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि 'तुलसी का जीवन साधना के लिए था, मैथिलीशरण का जीवन स्वयं साधना है। उसमें जीवन को जीने की पूर्ण आकांक्षा है। इसलिए मानस की अपेक्षा साकेत में जीवन का अंश अधिक है।' (साकेत: एक अध्ययन, पृ.-154)। साकेत स्वरूप से जीवन काव्य है। उसमें प्राचीन का विश्वास और नवीन का विद्रोह दोनों समन्वित होकर एक हो गए हैं। उसमें वर्तमान की समस्याएँ हैं, और उनका समाधान भी मौजूद है। इसी दृष्टि से डॉ. नगेंद्र ने उसे भारतीय जीवन का प्रतिनिधि ग्रंथ माना है। इसी तरह 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' में उन्होंने रसास्वादन को काव्य का मूल प्रयोजन माना है। इस समालोचनात्मक रचना में डॉ. नगेंद्र ने 'रसास्वादन' को समझाने के लिए आई.ए.रिचर्डस द्वारा निरूपित 'काव्यास्वादन की प्रक्रिया' का सहारा लिया है तो महाकाव्यत्व को

प्रमाणित करने के लिए लॉजॉइनस की 'उदात्त' संबंधी अवधारणा का सहारा लिया है। कामायनी के संदर्भ में डॉ. नगेंद्र का यह निष्कर्ष सर्वथा निर्विवाद है कि कामायनी का आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत-काश्मीरी शैवदर्शन- प्रत्यभिज्ञा दर्शन है। इन दोनों कृतियों के अतिरिक्त भी गौण रूप से कुछ कृतियों का संक्षिप्त किंतु सूक्ष्म विवेचन उन्होंने किया है। इस दृष्टि से उनका जयभारत, हिमकिरीटिनी, वासवदत्ता, कुरुक्षेत्र, राम की शक्तिपूजा, प्रेमाश्रम, इरावती, सुखदा, त्यागपत्र, बिल्लेपुर बकरिहा और हिंदी के आदिकाल का विश्लेषण आदि उल्लेखनीय हैं।

डॉ. नगेंद्र अपने शोध प्रबंध 'रीतिकालीन पृष्ठभूमि में देव का स्थान' लिखते-लिखते रीतिकाव्य से जुड़ गए और उनकी रूचि **सैद्धांतिक आलोचना** की ओर होने लगी। इसी संदर्भ में उन्होंने पहले भारतीय काव्यशास्त्र का सम्यक परिचय प्राप्त कर पाश्चात्य काव्य शास्त्र के स्रोत ग्रंथों का अंग्रेजी के माध्यम से अध्ययन किया। दोनों साहित्यशास्त्रों के मूलवर्ती समान तत्त्वों से प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र को पुनराख्यान द्वारा विस्तृत बनाने की बात सोची। डॉ. नगेंद्र 'साहित्य के मान', साहित्य का धर्म, 'काव्य-बिम्ब', 'कविता क्या है' 'रीतिकाव्य की भूमिका' 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', आदि निबंधों और भूमिका लेखन से जो सैद्धांतिक आलोचना का सिलसिला शुरू किया, उसकी पराकाष्ठा 'रससिद्धांत', में जाकर हुई। 'रस' की जो नई और आधुनिक व्याख्या शुक्ल जी से शुरू हुई, वह डॉ. नगेंद्र के यहाँ अपने चरम उत्कर्ष पर दिखती है। रस का उनकी आलोचना में केंद्रीय महत्त्व है, क्योंकि वे मानते हैं कि काव्य के तीन सर्वमान्य तत्त्वों-भाव, कल्पना और बुद्धि में मैं भाव को ही आधार मानता हूँ। शेष दो उसके सहायक हैं। अतः काव्य का आस्वाद मूलतः भाव का ही आस्वाद है- इंद्रियगम्य प्रकृत भाव का नहीं, वरन् कल्पनागम्य शुद्ध अथवा निर्वैयक्तिक भाव का। आस्वाद के इसी रूप को शास्त्र में रस कहा गया है। इस प्रकार काव्य के संदर्भ में आनंद का विशिष्ट अर्थ रस है और यही काव्य का प्रयोजन है। (आलोचक की आस्था, पृ.-5)

रस के अतिरिक्त डॉ. नगेंद्र ने अन्य काव्यशास्त्रीय सिद्धांतों की विशद विवेचना की है जिनमें रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, अलंकार आदि प्रमुख हैं। काव्यशास्त्र प्रमुख उनके समर्थ चिंतन और निर्मल काव्य-दृष्टि से और भी समर्थ और समग्र बन गया है। उन्होंने परंपरा का गहरा अध्ययन प्रस्तुत करते हुए जगह-जगह पर अपनी भौतिक स्थापनाएँ (साधारणीकरण आदि के प्रसंग में) भी की हैं और आचार्यों के मतों के साथ अपनी स्पष्ट सहमति और असहमति भी व्यक्त की हैं। साधारणीकरण के संदर्भ में उनका मत है कि कवि की अपनी अनुभूति का ही साधारणीकरण होता है, अतः रस की स्थिति के मूल में वही निहित है। अपनी आलोचनात्मक कृति 'नई आलोचना, नए संदर्भ' के नई आलोचना खंड में उन्होंने पश्चिम में विकसित आलोचना की नवीन प्रवृत्तियों का अध्ययन और आकलन किया है। इसमें उन्होंने पश्चिम की नई आलोचना के मुख्य विचारकों जान क्रो रेन्सम, ऐलन टेंट, राबर्ट पैन वारेन, रिचर्ड पी. ब्लैकमर, क्लीथ ब्रुक्स आदि की मूल स्थापनाओं को समझकर उन्हें बड़ी स्पष्टता से प्रस्तुत किया है। इसी में उन्होंने अंग्रेजी और हिंदी की कुछ कविताओं को सामने रखकर उनकी बहुत ही गहरी संरचनात्मक व्याख्या भी की है जो संरचनात्मक आलोचना के सुंदर प्रतिमान के रूप में दिखते हैं।

इस तरह डॉ. नगेंद्र के व्यावहारिक और सैद्धांतिक आलोचना के आधार पर कहा जा सकता है कि वे पाश्चात्य व भारतीय समालोचना के सेतु थे, जिन्होंने इसके विरोधात्मक स्वरूप को त्यागकर इसे पूरक बना दिया। उन्होंने हिंदी आलोचना के इतिहास में पहली बार कवि-व्यक्तित्व की ओर साहित्य प्रेमी का ध्यान आकृष्ट किया और अपनी शुद्ध साहित्यिक दृष्टि के आधार पर रीतिकाल एवं छायावाद का पुनर्मूल्यांकन प्रस्तुत किया। निश्चित रूप से डॉ. नगेंद्र शुक्ल जी के बाद के युग की आलोचना के प्रमुख आधार स्तंभ थे और उनकी आलोचना दृष्टि अत्यंत समृद्ध थी।



## सहायक ग्रंथ

1. रचना और समालोचना - डॉ. हरदयाल
2. हिंदी आलोचना प्रवृत्तियाँ और आधारभूमि - डॉ. रामदरश मिश्र
3. आधुनिक हिंदी आलोचना एक पुनर्विचार - डॉ. सुंदरलाल कथूरिया
4. हिंदी आलोचना की बीसवीं सदी - डॉ. निर्मला जैन
5. हिंदी आलोचना - डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
6. डॉ. नगेन्द्र विश्लेषण और मूल्यांकन - डॉ. एस.लक्ष्मी
7. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2) - ज्ञानमंडल लिमिटेड
8. रामचंद्र शुक्ल - डॉ. सत्यदेव मिश्र
9. आजकल (पत्रिका) - अक्टूबर 2009
10. आचार्य रामचंद्र शुक्ल - रामचंद्र तिवारी
11. हिंदी साहित्य कोश (भाग-2) - संपादक: डॉ. धीरेंद्र वर्मा